ŚRĪ ŚIVA-SŪTRA-VYĀKHYĀ

श्रीमत्परमहंस स्वामी अभयानन्दसरस्वतीप्रणीता

श्रीशिवसूत्र-व्याख्या

तच्छिष्य श्री ज्ञानानन्दसरस्वती–संकलिता

ओझोपाह्व पण्डितप्रवर श्री हरिशङ्करशर्मणा
परिष्कृत्य संपादिता, अवतरणिकासमलङ् कृता च

प्रकाशिता

तिथि : वैक्रमाब्द : २०४१
रविवार, फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी (महाशिवरात्रि)

श्रीमत्परमहंस स्वामी अभयानन्दसरस्वतीप्रणीता

श्रीशिवसूत्र-व्याख्या

तच्छिष्य श्री ज्ञानानन्दसरस्वती–संकलिता

ओझोपाह्व पण्डितप्रवर श्री हरिशङ्करशर्मणा
परिष्कृत्य संपादिता, अवतरणिकासमलङ् कृता च

प्रकाशिता

तिथि : वैक्रमाब्द : २०४१

रविवार, फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी (महाशिवरात्रि)

प्रकाशक :
मार्कण्डेय संन्यासाश्रम,
ओंकारेश्वर,
मध्य प्रदेश

मुद्रक :
नव ज्योति प्रेस
बाराबंकी
फोन–५७५

सभी अधिकार प्रकाशक के आधीन हैं।

प्रथम संस्करण १०००]

[मूल्य १५ रुपया

श्री पूज्यपाद अभयानन्द जी

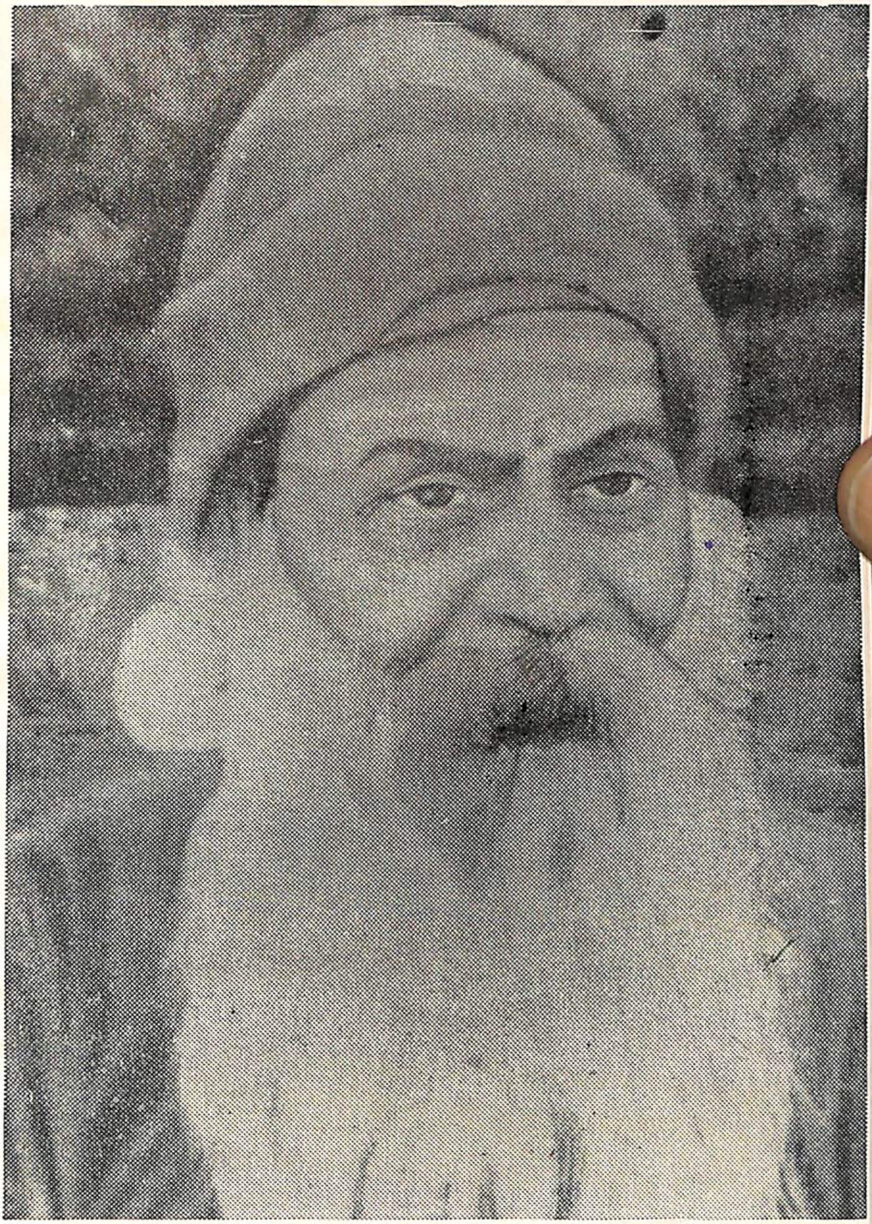

यद्दृष्टिः करुणामयी श्रितवतां ताप-त्रयोन्मूलिनी,
यद् वाक्यामृतजीवनी जनिमतां व्यामोह-मूर्च्छा-हरा।
यः साक्षाच्छिवविग्रहोऽनुपलमाविष्टो दशां भैरवीं,
सत्कीर्त्याऽत्र चकास्ति सोऽयमभयानन्दो महादेशिकः॥

।। विषय-सूची अवतरणिका-भाग ।।

क्रमांक	पृष्ठ
१– कश्मीरी शैवशास्त्र का उद्गम ।	१–५
२– विश्व का विकास ।	६–११
३– विमर्श का स्वरूप ।	११–१९
४– स्पन्द ।	१९–२६
५– प्रमातृ-भेद और मलत्रय ।	२७–३५
६– बन्ध और मोक्ष ।	३५–४१
७– उपायत्रय—(i) आणवोपाय	४१–४२
(ii) शाम्भवोपास	४३
(iii) अनुपाय ।	
८– इतिहास ।	४४–४९
९– शिव-सूत्र ।	४९–५०
१०– सूत्रों की संख्या ।	५१
११– शिवसूत्र की व्याख्याएँ ।	५२–५४
१२– शिवसूत्रवृति	५५
१३– आचार्य वसुगुप्त ।	५५–५७
१४– स्पन्द-कारिका ।	५७–५८
१५– उत्पलवैष्णव ।	५८–५९
१६– क्षेमराज ।	५९
१७– प्रत्यभिज्ञा शास्त्र ।	६०
१८– आचार्य सोमानन्द और शिवदृष्टि ।	६०–६३
१९– श्री उत्पलदेव और ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ।	६३–६४
२०– अभिनवगुप्त ।	६५–६६
२१– क्षेमराज ।	६६
२२– उपसंहार ।	६६–६७
२३– हिन्दी व्याख्या की आवश्यकता ।	६७–६८
२४– इस व्याख्या की विशेषता ।	६८
२५– शिवसूत्र पर प्रकृतहिन्दी व्याख्या ।	६८

※ सूत्रक्रमानुसार विषयसूची ※

प्रथम-प्रकाश

क्रमांक	पृष्ठ
१–ज्ञान क्रियात्मक चैतन्य ही आत्मा का स्वरूप हैं' इसका प्रतिपादन ।	३
२–बन्ध का लक्षण एवं स्वरूप ।	४
३–जीव को स्वरूपबोध से च्युत करके संसरण कराने वाली शक्तियों का निरूपण ।	६
४–भेदाभास के हेतुभूत शक्तियों के आश्रयादि का निरूपण ।	८
५–स्वरूपावरक ज्ञानाभास की निवृत्ति और स्वरूपबोध के उपाय का कथन ।	९
६–'स्वरूपबोध हो जाने पर बाहर भीतर अखण्ड पूर्णबोध ही रहता है, उससे च्युति नहीं होती' इसका प्रतिपादन ।	१०
७–स्वरूपोपलब्धि दृढ हो जाने पर जाग्रत् आदि अवस्थाओं में भी वह तुल्यतया एक अखण्डरूप में ही अनुभूत होती है। इसी को सहजविद्या का लाभ कहते हैं ।	१२
८–चित्स्वरूप आत्मा की अन्तःस्फुरणात्मक ज्ञानशक्ति ही जो ग्रहीतृ, ग्रहण, ग्राह्य रूप से स्वरूप में ही स्फुरित होती है वही प्रबुद्ध की जागरावस्था है ।	१३
९–अप्रबुद्ध जीव के स्वरूप का आवरक विविध भावोल्लेखनात्मक विकल्प स्वरूपा जो स्वप्नावस्था है उसका लक्षण ।	१३
१०–जिसमें स्वरूपकिरणरूप ज्ञान-ज्ञेय की अभिव्यक्ति न होने से माया-शक्ति, स्वरूप को आवृत कर लेती है वही मायाशक्ति से उद्भावित सुषुप्तावस्था है । इसका प्रतिपादन ।	१४
११–तीनों अवस्थाओं में समानरूप से स्वस्वरूपाभिनिविष्ट (अवस्थातृ भाव से स्थित) सत्वादि गुणों को स्वभावान्तर्गत चमत्कार मानने वाला 'वीरेश है' इसका सयुक्तिक प्रतिपादन ।	१५
१२–'विश्वात्मना स्फुरित स्वात्मचैतन्य ही है' ऐसे बोध में दृढनिष्ठ हो जाने पर यौगिक भूमिकाओं के अभ्यासक्लेश के बिना ही शिवयोगी को अनुत्तरभूमिकाधिरोहणात्मक सिद्धि प्राप्त हो जाती है इसका प्रतिपादन ।	१६

१३–अनुत्तरभूमि में अधिरूढ योगी निरावरणचिद्रूपसमावेश द्वारा अखण्डित स्वातन्त्र्य को प्राप्त कर लेता है इसका प्रतिपादन । १७

१४–"ऐसा योगी विश्व के साथ तादात्म्यभाव से उसके भीतर बाहर सर्वथा व्याप्त रहता है ।" इसका प्रतिपादन । १८

१५–इस समरसावस्था की अनुभूति कैसे होती है ? इसका समाधानात्मक निरूपण । १९

१६–शिव–चैतन्यलाभार्थ उपायकथन । २०

१७–शक्ति–चैतन्य लाभार्थ उपायकथन । २१

१८–महानन्दस्वरूप आत्मचैतन्योन्मेष का निरूपण । २१

१९–"प्रकाशाभिन्न विमर्शात्मिकानुभवरूप स्वातन्त्र्य चमत्कार ही समाधिसुख है' इसका निरूपण । २२

२०–ऐसे सिद्ध योगी को निरावरण चिद्रूपसमावेश से देवादिविलक्षण यथेष्ट शरीरों के उद्भावन में अखण्डित स्वातन्त्र्यशक्ति स्वभावतः प्राप्त रहती है, इसका प्रतिपादन । २३

२१–"यह निरावरण-चित्समाविष्टयोगी, स्वातन्त्र्यशक्ति के लाभ से यथेष्ट क्रीडा एवं निर्माण आदि वैभव की सिद्धि से युक्त होता है" । इसका कथन । २४

२२–"मितसिद्धियों की उपेक्षा से ही स्वात्म-स्वाराज्य की प्राप्ति होती है" इसका कथन । २६

२३–सर्वभावोद्भासक प्रकाशविमर्शात्मचित्स्वरूप के परामर्श के सतत परिशीलन से 'पूर्णाहन्ता' रूप, सर्वसिद्धिप्रद, मान्त्रबल का अनुभव होता है" इसका प्रतिपादन । २६-२७

द्वितीयः प्रकाशः–

१–'मन्त्र और देवता के विमर्श से तत्समरसीभूत, शाक्तबलसंपन्न, साधक का चित्त ही मन्त्र है' इसका प्रतिपादन । २८

२–चित्तात्ममन्त्रबल-सिद्धि के उपाय का निरूपण । २९

३–'स्वप्रकाशसंवित्-रूप परावाक् की विश्वरूपता ही मन्त्र का रहस्य है' इस तथ्य का निरूपण । २९

४–मन्त्रसिद्ध (अनुत्तर पदारूढि) प्राप्त करते समय बीच में प्राप्त संकुचित विषयकसिद्धिरूपा, अशुद्धविद्या को ही सिद्धि मानलेना स्वप्नतुल्य भ्रम ३०

है, अतः उसकी उपेक्षा करके शिवीभावपर्यन्त प्रयत्नशील रहना चाहिए' इसका प्रतिपादन ।

५–शुद्धविद्या का उदय होने पर स्वात्मबोधाकाश में विचरणात्मक शिवावस्था प्राप्त होती है जिसे 'खेचरी' मुद्रा कहते हैं'' इसका निरूपण । ३१

६–उपर्युक्त मान्त्रबलप्राप्ति में ईश्वरानुग्रह (शक्तिपात) से सद्गुरु की प्राप्ति उपाय है'' इसका कथन । ३३

७–सद्गुरु के प्रसादरूप शक्तिपात से अनुत्तर, आनन्द, इच्छा, ईशना, उन्मेष, ऊनता आदि क्रम से विश्वरूप में विकसित जो मातृकाचक्र है, वही मन्त्ररूप है। उसका संबोध होने से सन्मार्ग का अभिज्ञान हो जाता है इसका निरूपण । ३४

८–''मन्त्राभिन्न ज्ञानाग्नि में कार्ममलोपादानक शरीररूपी हवि भस्मसात् हो जाता है, जिससे पुनर्जन्म नहीं होता'' इसका कथन । ३६

९–''सिद्धिप्राप्त योगी के लिये स्वरूपविमर्शात्मक ज्ञान ही अन्न तृप्तिकारक है'' इसका निरूपण । ३७

१०–पूर्णबोध का उदय हो जाने पर संकुचित-विषयक अविशिष्ट विद्या का संहार हो जाता है, अतः पूर्वावस्था के विकल्पोत्थभाव स्वप्नवत् प्रतीत होते हैं । इसका प्रतिपादन । ३८

तृतीयः प्रकाशः

१–'चित्त ही विभिन्न योनियों में भ्रमण करनेवाला अणु आत्मा है' इसका निरूपण । ४०

२–''गुणसंबन्ध से विक्षिप्तचित्त का अवास्तवज्ञान ही बन्ध-हेतु है'' इसका निरूपण । ४१

३–माया के स्वरूप का निरूपण । ४२

४–''तत्त्वसमूहात्मकदेह के आरम्भक अंशों का मूलकारण में लयभावना के दृढ़ हो जाने पर स्वात्मस्वरूप का बोध हो जाता है, वही 'परबोधात्मकदेह' की प्राप्ति है'' इसका निरूपण । ४४

५–भूतसिद्धि के उदय के उपाय, तत्तद्भूतधारणाभ्यासपाटव का निरूपण जिसके द्वारा तत्तद्भूतों में प्रवेश, स्थिति, संचार, निर्माण-संयोजन वियोजनादि में स्वातन्त्र्य रहता है । ४६

६–''उक्त धारणाओं से प्राप्त शुद्धसिद्धियों के उपभोग में मोहवश आवरण- ४९

स्वरूप 'राग' की उत्पत्ति होती है, उससे भोगसिद्धि प्राप्त होती है, मोह से अभिभूत न होकर अपनी शुद्धावस्था के विमर्श से सर्वज्ञत्वादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं" इसका प्रतिपादन।

७–सहजविद्योदय का निरूपण। ५०

८–"सहजविद्योदय होने पर विश्वको स्वरश्मिमयरूप में देखते हुए योगी की नित्यप्रबुद्ध अवस्था में परिनिष्ठिति हो जाती है" इसका प्रतिपादन। ५१

९–"आत्मा स्वरूपस्थ होते हुए भी अभिनयकर्ता की भाँति स्वरूपगोपनपूर्वक स्वात्मभित्ति पर ही जगन्नाट्यलीला का निर्वहण करता है" इसका कथन। ५३

१०–"इस जगन्नाट्यलीला की रङ्गभूमि पुर्यष्टक है" इसका निरूपण। ५४

११–"अन्तर्मुख इन्द्रियगण ही इस जगन्नाट्यलीला का प्रेक्षक है" इसका कथन। ५४–५५

१२–"इस नाट्य में विभिन्नभावों में एक ही शुद्धचिद्रूप का अध्यवसाय करने वाली बुद्धि से सर्वावस्था में सूक्ष्म आन्तर स्फुरणस्वरूप सात्विकभाव की अभिव्यक्ति होती है" इस भाव का निरूपण। ५६

१३–"ऐसे आत्मा का स्वातन्त्र्यभाव सिद्ध है" इसका समर्थन। ५७

१४–"ऐसा योगी स्वावेश से परकीयदेह में भी सर्वज्ञत्व-स्वातन्त्र्यादि गुणों को प्रकट करने में समर्थ होता है" इसका निरूपण। ५७–५८

१५–"परकायप्रवेशादि में स्वतन्त्र होने पर भी यह योगी स्वरूपस्थिति से च्युत नहीं होता"। इसका निरूपण। ५८

१६–"स्वधामाप्रच्युति का हेतु बीज (जगत्कारण चिदात्मा) का अवधान ही है" इसका निरूपण। ५९

१७–शाक्तपद (पूर्णाहन्ता) में समावेश हो जाने पर परस्वरूप में स्थिति की सुगमता का निरूपण। ६०

१८–"बीजावधान और शाक्तपदप्रवेश के परिशीलन से कर्त्रंश स्वातन्त्र्यधाम में विश्रान्ति से वह बल प्राप्त होता है, जिससे योगी स्वेच्छानुरूप अपूर्व निर्माण (सृष्टि) में समर्थ होता है" इसका निरूपण। ६४

१९–"उक्त उपायों के अभ्यास से शुद्धविद्या का उदय होता है जिसका फल अपुनर्जन्म है" इसका कथन। ६५

२०–सिद्धिप्राप्त भी यदि प्रमादवश स्वरूपस्थिति से च्युत हो जाता हैं तो ६६

घोरादि संज्ञक मातृकाशक्तियाँ शब्दानुवेध से उसे मोहित करके संसारी (पशु) बना देती हैं" इसका कथन।

२१–स्वर, स्पर्श, और यादि इन तीन वर्गों में विभक्त घोरादिमातृकाओं द्वारा आभासित भेदों में स्फुरणरूपतया व्याप्त चिद्रसाश्यानता की भावना से भेदविगलनपूर्वक शुद्धशिवतत्त्वानुसन्धान की दृढ़ता से नित्यसमाहितता के अभ्यास का निरूपण। ६७

२२–इङ्गालानुप्रविष्ट अग्नि की भांति वर्णानुप्रविष्ट शुद्धशिवतत्त्व के अनुसन्धान दार्ढ्य की प्राप्ति के उपाय का निरूपण। ६८

२३–'वर्णों की आदिकोटि और अन्तकोटि की अवस्था का विमर्श न होने से मध्यकोटि में विचित्र विकल्पों की प्रतीति ही भेदाभास का कारण बनती है' इसका निरूपण। ७०

२४–"परनादाख्य, स्वतन्त्रप्रकाश की व्याप्ति का ज्ञान हो जाने पर परावाक् ही पद मन्त्रादि रूप में भासमान है, इस प्रकार अभेदानुभव के दार्ढ्य से अनुत्तरसामर्थ्य की प्राप्ति होती है" इसका निरूपण। ७१

२५–"मायादिपृथिवीपर्यन्त भूवशरीरोपादानतत्वों में स्वात्मचिद्घन-रूपता के अनुसन्धानपरिशीलन से, अवरप्रसव से नष्ट, तुर्यचमत्कारमयस्वभाव का पुनः उदय हो जाता है" इसका निरूपण। ७२

२६–"इस प्रकार अपनी शिवरूपता के परिशीलन से शरीरादि-संबन्ध रहने पर भी योगी धिवतुल्य हो जाता है" इसका निरूपण। ७४

२७–"इसप्रकार शिवभाव में ध्रुवनिष्ठ सिद्धयोगी का देहव्यापार ही व्रत-स्वरूप है" इसका प्रतिपादन। ७५

२८–"एवं पराहन्तापदरूढ़योगी का सामान्य-भाषण भी स्वरूपविमर्शावर्तन रूप 'जप' है" इसका प्रतिपादन। ७६

२९–"शक्तिपातयुक्तअधिकारी पात्रभूतमुमुक्षुजनों में स्वरूपबोध का प्रकाश नहीं इसका 'दान' है"इसका निरूपण। ७७

३०–"युक्तसंसिद्धि-संपन्न योगी, स्वरूप में विश्वोल्लासन करके वैश्वरूपा का भोग करते हुए मोक्षलक्ष्मी का भाजन होता है। तथा अनुग्राह्य पशु अधिकारी के ज्ञान का हेतु भी होता है" इसका प्रतिपादम। ७७

३१–"शिवतुल्ययोगी के लिये विश्वस्वशक्तिविभवरूप में स्फुरित होता है" इसका निरूपन। ७८

३२–"विश्वात्मभूतयोगी अपनी क्रियाशक्ति से उद्भासित विश्व की स्थिति और संहार करने में समर्थ होता है" इसका निरूपण। ७९

३३–"सृष्टि, स्थिति और लय के उद्भासनकाल में भी योगी के स्वप्रकाश-स्वरूप का लोप नहीं होता" इसका निरूपण। ८०

३४–"स्व-स्वरूप-विमर्श से प्रच्युत न होने से योगी आध्यात्मिकादि सुख-दुःखादि के प्रकट होने पर भी उनके आनुभविकस्पर्श से रहित होता है" इसका निरूपण। ८१

३५–"परिपूर्ण स्वात्मविभवसंपन्नयोगी सुखादि संस्पर्शरहित केवल चिन्मात्र आत्मस्वरूप में विश्राम करता है" इस स्थिति का निरूपण। ८२

३६–मोहवश शरीरादि में अहंभाव के रूढ़ हो जाने पर सुखादि के लोभ से शुभाशुभ और मिश्रकर्मों के करने से विविध योनियों में संसरण-स्वरूप पशुत्त्व का निरूपण। ८३

३७–"शिवशक्तिपात से भेद-बुद्धि मिट जाने पर स्वभिन्न कुछ नहीं भासता उस दशा में स्वरूपप्रत्यापत्ति से योगी को अपूर्व, विचित्र, अभिनव-सृष्टि करने का सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है" इसका निरूपण। ८४

३८–"विविध भावोल्लासनात्मक, नूतन-सृष्टि-निर्माणसामर्थ्य की प्राप्ति में स्वानुभव ही हेतु है" इसका निरूपण। ८५

३९–"जाग्रत् आदि अवस्थाओं का मूल जो तुर्यावस्था है वही चिद्धनस्वात्म शिवरूप हैं, वही सृष्टिविषयभावों को सत्ता, स्फुरत्तारूप स्वात्मबल प्रदान करता है" इसका निरूपण। ८७

४०–"चित्त जब अन्तर्मुख होकर स्वरूपस्थ (चिद्रूप) हो जाता है, तब इन्द्रियां और तद्द्वारक चित्तवृत्तियां भी चिद्रूप में ही अभिव्यक्त होती हैं, इस प्रकार सर्वत्र चिदात्मा का ही अभिव्यञ्जन होता है" इसका प्रतिपादन। ८७-८८

४१–"कर्मात्मापशु, अपूर्णम्मन्यतारूप-अविद्याख्य मलयुक्त होने से शब्दादि विषयों के प्रति लोलुप होता है, अतः वह बहिर्मुख होकर बाह्यविषयों में ही संसरण करता है अन्तर्मुख नहीं होता" इसका निरूपण। ८८-८९

४२–"शिवानुग्रहरूपशक्तिपात से स्वरूपज्ञान के लिये प्रयत्नाश्रयण करने से जब स्वरूपप्रत्यभिज्ञा हो जाती है तभी सर्वात्मभाव के उदय से अभि-लाषक्षय द्वारा संबाह्य पुर्यष्टक की भी समाप्ति संभव है" इसका कथन। ९०

४३–"अभिलाषात्मक मल का प्रक्षय हो जाने पर योगी सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व-रूप शिवभूमि में आरूढ़ होकर शिवतुल्य हो जाता है केवल कञ्चुकवत् शरीर को वह धारण किये रहता है" इसका प्रतिपादन। ९१

४४–"ऐसा सिद्धयोगी यद्यपि स्वप्रकाश संविन्निष्ठ होता है, और उसका देहादि में अहन्ताभिमान भी नहीं रहता, तथापि शिवेच्छाधीन प्रकृति-स्वभावानुसार प्रारब्धकर्मोपभोगपर्यन्त प्राण और तत्संबद्ध देहादि की अवस्थिति रहती है" इसका प्रतिपादन। ९३

४५–शिवतुल्यता प्राप्त हो जाने पर 'अनुत्तरस्वात्मसिद्धि' के अभ्यास के लिये प्राणात्मा जो 'अनाहत शब्दब्रह्म' है, उसकी उपासना का निर्देश। ९४

४६–"मायाशक्तिवश भेद (संकोच) को प्राप्त परमार्थतः शिवस्वरूप विभु आत्मा उपदिष्ट आणवादि उपायमार्ग से आणवादि मलप्रक्षय से स्वात्मप्रत्यभिज्ञा हो जाने पर विश्वनाट्यलीला का संवरण करके पूर्णघनानन्दशिवता में प्रतिष्ठित हो जाता है" इसका प्रतिपादन। ९६

इति तृतीयः प्रकाशः

।। शिवसूत्र प्रतिपाद्यविषयों की सूत्रक्रमानुसार सूची समाप्त ।।

श्रीगणेशायनमः। श्रीगुरुभ्योनमः। श्रीसरस्वत्यैनमः।

❖ अवतरणिका ❖

जयति जनमरिष्टादुद्धरन्ती भवानी,
जयति निजविभूति-व्याप्तविश्वः स्मरारिः।
जयति च गजवक्त्रः सोऽथ यस्य प्रभावा-
दुपरमति समस्तो बिघ्नवर्गोपसर्गः॥

चित्रालोक-विकल्प-कल्पित नवाकल्पाङ्कनानाकृति,
नृत्यन्तीं बहुधा बहिः स्ववपुषोऽप्यन्तर्नभिन्नांपुनः।
नित्यं नूतनकौतुकः प्रियतमां स्वांशक्तिमालोकयन्-
अच्छिन्नाप्रतिमप्रमोदमहिमा, शम्भुर्जयत्येककः॥

करुणामृतवर्षिण्या दृशैव निखिलं भयम्।
हरन्तमभयानन्दं, गुरुं वन्दे शिवाद्वयम्॥

भारतीय मनीषियों द्वारा "शाश्वत पूर्ण आनन्द की प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है" ऐसा निर्धारण किया गया है। सामान्यजन किंवा पशु भी सुख ही चाहते हैं। परन्तु उन्हें 'सुख क्या है?' इसका यथार्थ निश्चय नहीं, अतः वे भ्रमवश मृगमरीचिकातुल्य सुखाभास को ही सुख मानकर उसी के पीछे स्वप्नाभ जगत् में अनन्तानन्त-जन्मों से असत् साधनों के जाल में फँसकर, असंख्य योनिों में भटकते हुए दुःख-परम्पराओं से पीड़ित हो रहे हैं, उन्हें शान्ति नहीं प्राप्त हो रही है। पश्वादियोनियों में केवल आहार, निद्रादि के लिये ही, प्रयत्न होते हैं, परमकल्याणकारी मानवशरीर प्राप्त करने के लिये नहीं। अतः दुःखी जीवों पर अकारण स्नेह करने वाले परमात्मा की दया के बिना मानवशरीर की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। ऐसा विचार कर, प्रत्येक मानव को परमात्मा के प्रति कृतज्ञ होना चाहिये, और यह समझना चाहिये कि परमेश्वर ने दया और स्नेह वश हमें मानवशरीर इसलिये दिया है, कि हम इसके द्वारा उन उच्च विचारों एवं साधनों को अपनायें जिनसे 'शाश्वत आनन्द' प्राप्त

कर कृतार्थ हो जायँ। यदि वह ऐसा नहीं समझता और परमस्नेही परमेश्वर के स्नेह और दया का अनादर करके मानवदेह को व्यर्थ ही गँवा देता है तो उसे पुनः उन शूकर-कूकर-कीटादि अनन्तानन्तनारकीय योनियों में भटकना पड़ता है और अवसर खोकर, सदा के लिये पछताना ही पड़ता है, इसी बात को अनुग्रहमूर्ति सन्तशिरोमणि महात्मा तुलसी-दास जी श्री रामचरितमानस में भगवान् राम के श्रीमुख द्वारा दिये गये उपदेश रूप में व्यक्त करते हैं *

यही बात भगवान् श्रीकृष्ण ने भी उद्धव को उपदेश के प्रसङ्ग में मानव को, सावधान करते हुए कही है[1]

'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरित पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥'[1]

अतः प्राक्तन वासनावश, मति-भ्रान्त मानव को अपने कर्तव्य एवं विचार के निर्धारण हेतु शास्त्र का आश्रय लेना अनिवार्य है, क्योंकि शास्त्र के द्वारा ही भ्रमनिवृत्ति, एवं अर्थ-दर्शन हो सकता है, जैसा कि मनीषियों का वचन है—

"मतिभेदतमस्तिरोहिते, गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम्।
सुकृतः परिशुद्ध आगमः, कुरुते दीप इवार्थदर्शनम् ॥[2]

---

*बड़े भाग मानुषतनु पावा, सुरदुर्लभ सबग्रन्थन्हि गावा।
साधन-धाम मोच्छकर द्वारा, पाइ न जेहि परलोक सँवारा ॥
सोपरत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ ॥ उ० का० ४२
आकर चारिलच्छ चौरासी, जोनिभ्रमत यह जिव अविनासी।
फिरत सदा माया कर प्रेरा, कालकर्म सुभाव गुन घेरा ॥
कबहुँक करि करुना नरदेही, देत ईस विनुहेतु सनेही।
नरतनु भववारिधिकहुँ बेरो, सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो।
करनधार सद्गुर दृढ़नावा, दुर्लभ साजसुलभ करिपावा ॥
जो न तरै भवसागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिन्दक मन्दमति, आत्माहनगति जाइ ॥ उ० का० ४४

१—श्रीमद्भागवत ११/२१/१६
२—किरातार्जुनीयम् २/३३

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ'[1]

तदनुसार भारतवर्ष में निगम और आगम नाम से प्रसिद्ध दोनों ही शास्त्र प्रमाण स्वरूप मान्य हैं। ये दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी नहीं हैं अपितु परमात्मा का विश्वासरूप निगम और वाग्-रूप आगम है' ऐसा ही माना और जाना जाता है। 'निश्चयेन तत्त्वं गमयतीतिनिगमः' आप्त-वचनादाविर्भूतमर्थविशेषसंवेदनमागमः' इन व्युत्पत्तियों द्वारा उपर्युक्त अर्थ की ही पुष्टि होती है।

'निगम अगाध ज्ञान भण्डार है, विभिन्न साम्प्रदायिक व्याख्याओं के कारण सामान्यजनों के लिये दुरूह और संशयास्पद होने से सर्वसाधारणोपयोगी नहीं हैं, ऐसा विचार कर लोकरक्षणैकपरायण, परमकारुणिक भगवान् शङ्कर ने भगवती पार्वती को सर्वजनोपयोगी वेदार्थ-विवरण-स्वरूप आगमों का उपदेश किया। जैसा कि कहा गया है—

"आगतं शिववक्त्रात्तु गतं च गिरिजामुखे।
मतं श्री वासुदेवेन, आगमस्तेन कीर्तितः ॥"

'लोकानुग्रह के लिये, श्री शिवजी ने माता पार्वती के प्रति, जिसका उपदेश किया और जो श्री वासुदेव को अभिमत है वही आगम कहा गया'। आगम शब्द का यह रूढ्यर्थ है। वस्तुतः शिवशक्ति और वासुदेव सब एक ही तत्त्व हैं,[2]

पञ्च कृत्यान्तर्गत अनुग्रह ही शिवका मुख्य कार्य है। "आ समन्तात् अर्थं गमयतीत्यागमः" यह आगम का यौगिकार्थ है।[3]

जिससे अभ्युदय (भुक्ति) और निःश्रेय (मुक्ति) के उपाय समझ में आजाते हैं वही आगम है ऐसा विग्रह प्रदर्शित किया है।[2]

१–भगवद्गीत–१६/२४

२–'शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः' 'ततः श्री ललितादेवी धृत-श्रीकृष्ण-विग्रहा। वेणुनाद विनोदेन, मोहयत्यखिलं जगत्'।

३–"आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः"–(वाचस्पति मिश्र)

अतः मानव को दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति, एवं शाश्वत-सुख की प्राप्ति–हेतु आगमोक्त उपायों का अवलम्बन करना चाहिये। "आगमों का प्रामाण्य बलवत्तर है" जैसा कि पूर्णतः प्रत्यभिज्ञा में कहा गया है–

"अतः श्री भारते वर्षे सर्वदेशशिरोमणौ।
प्रामाण्य मागमस्यास्ति सर्वतोबलवत्तरम्"॥[1]

इसमें वर्ण, वय, आश्रमादि प्रतिबन्ध के बिना मानवमात्र का अधिकार है, जैसा कि 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी में अभिनवगुप्तपादाचार्य का कथन है–

"यः कश्चिज्जननधर्मा, तस्य अतः सिद्धिः। नतु अत्रजात्यादौभरः। इति सर्वानुग्रहकत्त्वमुक्तम्' शिवसद्भाव लाभैकफलं नाम प्रोत्सुके अधिकारिण्यसौ जातिकुल-वर्णाद्यनादरात्[2]

मूलतः शिवप्रोक्त होने के कारण इसे शैवागम, शैवशास्त्र, शैवदर्शन आदि नामों से अभिहित किया जाता है। प्रस्तुत 'शिवसूत्र' शैवागम के सिद्धान्तों का सूत्रोचित सारवत्ता से प्रतिपादन करते हुए मोक्ष (स्वरूपाभिन्नशिवत्व) प्राप्ति के लिये तीव्रतम, तीव्रतर एवं तीव्रशक्ति-पातानुगृहीत अधिकारियों की दृष्टि से क्रमशः शाम्भव, शाक्त और आणव उपायों का निर्देश करते हैं। इस विषय पर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे।

भारत की दार्शनिक बिद्याओं के विकास में कश्मीरप्रदेश किसी अन्य प्रदेश से पीछे नहीं है, प्रत्युत् वह शैवागमोपजीव्य दर्शनों में सर्वश्रेष्ठ प्रत्यभिज्ञादर्शन को उद्भावित करके आज महती महिमा से मण्डित हो रहा है।

सम्प्रदायानुगतपरम्परा से सुना जाता है कि आचार्य वसुगुप्त ने भगवान् श्रीकण्ठ के स्वप्नोपलब्ध आदेश से महादेव-गिरि के किसी पाषाणखण्ड पर समुट्टङ्कित ७७ संख्याक शिवसूत्रों को प्राप्त कर, उसके आधार पर, एक दर्शन का निर्माण किया जो पति, पशु और पाश इन तीन पदार्थों का मुख्यतया प्रतिपादन करने से 'त्रिक-दर्शन' इस नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। आचार्यवर्य वसुगुप्त के शिष्य आचार्य कल्लट

१–पू० प्र० २८४
२–विमर्शिनी ४/४/३

ने स्वगुरुप्रणीत स्पन्दकारिका पर 'स्पन्दसर्वस्व' नामक वृत्तिग्रन्थ की रचना करके स्पन्द-दर्शन का विकास किया। आचार्य वसुगुप्त के सोमानन्द नामक शिष्य ने गुरूपदिष्ट शिवसूत्ररहस्य, स्पन्दकारिका, तथा अन्य एक दर्शन शास्त्र (जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं है) के अनुसार 'शिवदृष्टि' नामक ग्रन्थ के निर्माण से 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' को प्रकाशित किया। आचार्य सोमानन्द के शिष्य उत्पलदेव ने 'शिवदृष्टि' के आधार पर 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' नामक कारिकामयग्रन्थ की रचना की। जिस पर आचार्य अभिनवगुप्त की 'विमर्शिनी' व्याख्या है, एवं विमर्शिनी को भी सुबोध करने के लिये उसपर आचार्य भास्करकण्ठ ने 'भास्करी' नामक टीका की रचना की।"

इस प्रकार 'शिवसूत्र' के युगद्रष्टा आचार्य वसुगुप्त ही 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' के मूल आचार्य सिद्ध होते हैं, जिसका पूर्ण विकास उनके शिष्य प्रशिष्यों द्वारा किया गया है। प्रकृत ग्रन्थ 'शिवसूत्र' का भी दार्शनिक विषय प्रत्यभिज्ञादर्शन ही है, अतः उसके सिद्धान्तों पर आगे यत्किञ्चित् विचार किया जा रहा है।

यह शास्त्र जीव को अपनी सहजशिवता का परिचय कराकर उसे अपने स्वरूप, पूर्ण-चैतन्य में प्रतिष्ठापित करता है, अतएव इसे 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' कहते हैं। इस दर्शन के अनुसार परमेश्वर परमशिव ही एक अद्वितीय पारमार्थिक वस्तु हैं। जीव और जगत् उसकी स्वाभाविक स्वातन्त्र्यशक्ति का विजृम्भण मात्र है। वही जीव का वास्तविक स्वरूप है। अपनी परमशिवता की प्रत्यभिज्ञा ही, जीव द्वारा उपार्जनीय महा-स्वातन्त्र्य-स्वरूप 'मोक्ष' जो परमपुरुषार्थ है, उसकी जननी है। 'विमर्शिनी में श्रीमद् अभिनवगुप्तपादाचार्य के वचनों में 'प्रत्यभिज्ञा' की निम्नाङ्कित व्युत्पत्ति की गई है— यथा—

"प्रतीपम् आत्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः" अर्थात् जगदाभास के विपरीत आत्माभिमुखता से प्राप्य पूर्ण प्रकाश ही प्रत्यभिज्ञा है।

भास्करीकार आचार्य भास्करकण्ठ ने इसकी व्याख्या इस प्रकारकी है।

"पूर्वज्ञातस्य मध्ये विस्मृतस्य पुनराभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः"।

अर्थात् पहले जो ज्ञात हो मध्य में विस्मृत हो गया हो उसी का पुनः अभिमुख हो जाने पर प्रकाश (ज्ञान) हो जाना प्रत्यभिज्ञा है।

विश्व का विकास

परमशिव विश्व सिसृक्षा का उदय होने पर अपने को शिव और शक्ति रूप में उन्मीलित करते हैं, अर्थात् शिवशक्ति-सामरस्यावस्था में स्थित परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य-स्वभाव से शिव और शक्ति को अभिव्यक्त करते हैं। उनमें शिव 'प्रकाश' स्वरूप और शक्ति विमर्शरूपा है। प्रकाश से अनुप्राणित अकृत्रिम पूर्णाहन्ता की स्फूर्ति ही विमर्श है। जैसा कि ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में कहा गया।

"स्वस्वरूपेच विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम्"[1]

'प्रकाशस्य यदात्ममात्रविश्रामणमन्योन्मुखस्वात्मप्रकाशताविश्रान्ति-लक्षणो विमर्शः 'सः अहम्' इत्युच्यते'[2]

यह विमर्श ही समग्रविश्वाकार-विकास का मूल है। इसका सामर्थ्य निःसीम एवं विविधवैचित्र्यपूर्ण है। यह विमर्शशक्ति शिवस्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये शिव के आश्रय से ही प्रवृत्त होती है। विमर्शशक्ति के बाह्य उन्मेष को 'ईश्वर' और आन्तर निवेष को 'सदाशिव' कहा जाता है। जैसा कि महामाहेश्वराचार्य श्रीमद्उत्पलदेव ने कहा है—

"ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः"[3]

विश्व का स्फुटत्त्व एवं बाह्यत्त्व रूप 'उन्मेषण' एवं उसका अस्फुटत्वापादन अर्थात् पूर्ण अहन्ता के उद्रेक में विलीन हो जाना ही 'निमेषण है। ईश्वर से जगत् का प्रवर्तन होता है इसलिये ईश्वर 'उन्मेष' कहा जाता है, सदाशिव में जगत् का प्रलय होता है अतः उसे 'निमेष' कहा गया। ईश्वर में 'इदमहम्' इत्याकारविमर्श होता है। यहाँ ग्राह्य और ग्राहक स्वरूप जो 'इदम्' और 'अहम्' अंश हैं, दोनों स्फुट एवं चिन्मात्र-विषयक हैं। सदाशिव में तो 'अहमिदम्' ऐसा विमर्श होता है, यहाँ इदन्तारूपरूषित जो 'अहम्' यह ग्राहकांश है वही स्फुट है ग्राह्यांश नहीं, इस विमर्श का विषय भी 'चिन्मात्र' ही है।

चिद्रूप समान अधिकरण में प्रवर्तमान उपर्युक्त उभयाकारविमर्श ही 'सद्विद्या' 'शुद्धविद्या' आदि पदों से व्यवहृत होता है, जैसा कि कहा गया है—

"सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदं धियोः"[3]

१–ईश्वर प्रत्यभिज्ञा २–ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी ३–ई० प्र० ३/१/३

भाव यह है कि भगवान् परमशिव ही अहमाकार-विमर्शविग्रह-स्वरूप में 'शिवः' प्रधानतया अहमाकार और अप्रधानभाव से इदमाकारविमर्शात्मक-स्वरूप से 'सदाशिवः' और समप्राधान्यतया इदमहमाकार 'ईश्वर' कहे जाते हैं और चिन्मात्र-विषयक उनका उपर्युक्त विमर्श ही 'सद्विद्या' है। इस प्रकार समरसावस्थ परमशिव ही अपनी स्वभावभूता स्वातन्त्र्य-शक्ति से स्वयं को अपने प्रकाशवपु में ही 'शिव' 'शक्ति' 'सदाशिव' 'ईश्वर' और 'शुद्धविद्या' रूप में आभासित करते हैं। ये पाँच शुद्धतत्त्व हैं।

तदनन्तर सामानाधिकरण्य का त्याग करके अधिकरण भेद से ग्राह्य ग्राहक उभयांश में स्फुट रूप से स्फुरित होने वाली 'अहमिदमाकार'-विमर्शरूपा अथवा इदमहमाकारविमर्शरूपा पारमेश्वरी 'मायाशक्ति', कञ्चुकस्वरूप कला, विद्या, राग, काल और नियति का निर्माण करके शिवस्वरूप आत्मा की सर्वकर्तृता को कला से, सर्वज्ञता को विद्या से, नित्यतृप्तता को राग से, नित्यता को काल से और स्वतन्त्रता को नियति से तिरोहित करके उसके विकास के 'अहम्' अंश रूप एक अङ्ग को पुरुष और 'इदम्' अंश रूप अपर अङ्ग को प्रकृतिभाव को प्राप्त कराकर पूर्णआत्मा को संकुचितरूपों में ले आती है।

तदनन्तर पुरुष से प्राप्तगर्भा प्रकृति, बुद्धि, अन्तःकरणादि पदव्यवहार्य 'महत्तत्त्व' को उत्पन्न करती है। महत्तत्त्व से 'अहंकार' अहंकार से श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसन, घ्राण संज्ञक 'पञ्चज्ञानेन्द्रिय', वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ रूप 'पञ्चकर्मेन्द्रिय, ज्ञान कर्मोभयेन्द्रियात्मक 'मन' और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध स्वरूप 'पञ्चतन्मात्र' उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर पञ्चतन्मात्रों से आकाश, वायु, तेज, जल, भूमिस्वरूप 'भूत पञ्चक प्रादुर्भूत होता है, जिससे यह समग्र विशाल भौतिक प्रपञ्च विकसित होता है। इस प्रकार इस दर्शन में दृश्यमान जगत् के ३६ मूलतत्त्व मान्य हैं। उनमें तीन विभाग हैं, शिवतत्त्व, विद्यातत्त्व और आत्मतत्त्व।

शिवतत्त्व–शिव और शक्ति ये दो तत्त्व शिवतत्त्व हैं।

विद्यातत्त्व–सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या ये तीन तत्त्व विद्यातत्त्व के अन्तर्गत हैं।

आत्मतत्व–माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, महत्, अहंकार, श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसन, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, मन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, तेज, जल और भूमि ये ३१ तत्व आत्मतत्व में अन्तर्भूत होते हैं, ' *

परन्तु इस संपूर्ण तत्व समूह को एवं तन्मूलक विश्व को परमशिव परमेश्वर ही अपनी स्वाभाविकी स्वातन्त्र्यशक्ति से स्वात्मरूप निर्मल दर्पण में विम्ब की अपेक्षा किये बिना ही बहिःस्थित की भाँति केवल प्रतिविम्बित करते हैं, इस प्रकार आत्मरूप परमशिव ही एकमात्र परमार्थ पदार्थ हैं, जैसा कि कहा गया है—

चित्प्रकाशमय आत्मशिव ही योगी की भाँति उपादाननिरपेक्ष अन्तः स्थित अर्थजात को स्वेच्छा मात्र से बाह्य रूप में प्रकाशित करते हैं।[2] प्रकाश-स्वरूप प्रमाता के साथ एकात्मभाव से रहने के कारण सभी अर्थजात सदैव प्रकाशात्मा के अन्तर्गत ही रहते हैं, क्योंकि जो प्रकाशमान नहीं, वह कोई वस्तु ही नहीं हो सकता। इस विषय को ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनीकार श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य ने इस प्रकार बर्णन किया है— यथा–

जिस प्रकार स्वच्छदर्पण में विविध विचित्र नगर, बृक्ष, मुखादि वस्तु भासित होते हैं, परन्तु दर्पण से भिन्न वहां उनकी सत्ता नहीं होती, उसी प्रकार इदंपदपरामृष्ट संपूर्ण जगत् चिदात्मा के अन्तर्गत ही भासित होता है, अतः आत्मा से भिन्न विश्व नहीं है। इनमें अन्तर यही है कि

---

*१–"विज्ञानाकल-पर्यन्तंमात्मतत्वमुदाहृतम्।
ईश्वरान्तं च विद्याह्वं शेषं शिवपदंविदुः। (मा० वि० २/४७)
आत्मतत्वस्य मायान्तं व्याप्तिः।
ईश्वरान्तं = मन्त्र-महेश्वरान्तम्। अस्य सदाशिवान्तं व्याप्तिः

तत्वम्–तस्य-जडस्य चेतनस्य वा वस्तुनो भावः मूलस्वरूपं तत्वम्। मूल स्वरूपज्ञानं हि मोक्षोपयोगि भवति, तथाहि यस्यज्ञानं मोक्षोपयोगि भवति तत् तत्त्वम्' इति तत्त्वलक्षणं पर्यवसन्नम्।

२–"चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद्बहिः।
योगी व निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥"

बोध स्वरूप आत्मा स्वभावभूता विमर्शशक्ति के योग से 'अहम् इदम्' इस प्रकार स्वाभिन्न स्वविभव रूप से विश्व का परामर्श करता है और माया के आश्रय से संकुचित चैतन्यात्म दृश्य (जड़) रूप होने के कारण विमर्शशक्ति शून्य दर्पण 'स्व' में आभासित स्वाभिन्न वस्तुओं का 'अहम्' रूप से परामर्श नहीं कर सकता।

प्रतिविम्ब के विषय में 'तन्त्रालोक' के तृतीय आह्निक में विस्तार से विचार किया गया है, जिसका सारांश निम्नाङ्कित है।

विम्ब का लक्षण—जो अन्य के रूप से मिश्रित न होकर स्वतन्त्र रूप से भासमान हो उसे विम्ब कहते हैं, जैसे मुख[2]।

प्रतिविम्ब— जो अपने स्वरूप का त्याग, न करके परस्वरूप का अनुकारी हो उसे प्रतिविम्ब कहते हैं।[3]

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन पाँच का समूह ही विश्व है, जो चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा गृहीत होता है, परन्तु ये चक्षु आदि इन्द्रियों की वृत्तियाँ प्रकाश (बोध) रूप चैतन्य में प्रतिफलित होकर ही प्रकाशित होती हैं।[1]

दर्पण सर्वांश से निर्मल नहीं है—

उसका रूपमात्र निर्मल है, अतः उसमें विम्ब के रूपमात्र का ही अवभास होता है, स्पर्शगन्धादि का नहीं। इसी कारण दर्पणादि के प्रतिविम्बों में विम्ब संबन्धी रूपमात्र का ग्रहण चक्षु से होता है, घ्राणत्वगादि इन्द्रियों से गन्ध स्पर्शादि का अनुभव नहीं होता। कारण यह कि दर्पण का रूपमात्र ही निर्मल है, गन्धस्पर्शादि नहीं।

"प्रच्छन्नानुरागिणी अपने प्रियतम के प्रतिविम्ब से युक्त दर्पणों को हृदय से लगाकर भी प्रियस्पर्शसुख से वञ्चित नहीं रह जाती है, तृप्त

१—"निर्मल मुकुरेयद्वद् भान्तिभूमि जलादयः।
अमिश्रा स्तद्वदेकस्मिश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः॥" (तं० ३/४)

२—(अन्यामिश्रं स्वतन्त्रं सद्भासमानं विम्बम्। यथा मुखम्)

३—"निजधर्माप्रहाणेन पररूपानुकारिता।
प्रतिविम्बात्मतासोक्ता खड्गादर्शतलादिवत्॥"
प्रज्ञालङ्कारकारिका (त० टी० ३/२३)

नहीं होती, क्योंकि दर्पण का स्पर्शनिर्मल नहीं, रूप ही निर्मल है अतः स्पर्श उसमें प्रतिबिम्बित नहीं होता।[1]

*"बोधस्वरू आत्मा सर्वाधिक निर्मल है।"

दर्पण की अपेक्षा स्फटिक का रूप अधिक निर्मल होता है, क्योंकि वह सर्वतः (सभी ओर से) अपने में स्वाभिन्नतया अन्य के रूप को आभासित करता है, परन्तु बोधस्वरूप आत्मा सर्वाधिक निर्मल है अतएव वह अपने में रूपादि पञ्चवर्गमय विश्व को स्वरूप-प्रकाशभिन्नतया आभासित करता है। असंकुचित चेतन होने से वह उसका 'अहं' रूप से परामर्श भी करता है। इस प्रकार 'दर्पण स्वच्छ, स्फटिक स्वच्छतर और बोध स्वच्छतम हैं'। इसी तात्पर्य से कहा गया है किः—

"नैर्मल्यं मुख्यमेकस्य संविन्नाथस्य सर्वतः।
अंशांशिकातः क्वाप्यन्यद्विमलं तत्तदिच्छया॥"[2]

बोध की सर्वाधिक स्वच्छता यही है कि वह सर्वप्रकाशक अतएव स्वप्रकाश होने के कारण परग्राह्य नहीं है, इसके विपरीत स्फटिकादि की आकृति परग्राह्य है अतः उनमें महेश्वर की इच्छाशक्ति के अधीन आंशिक ही स्वच्छता है। जैस कहा गया हैः—

१–"तथाहि निर्मले रूपे रूपमेवावभासते।
प्रच्छन्न रागिणी कान्तंप्रतिबिम्बित सुन्दरम्।
दर्पणं कुचकुम्भाभ्यां स्पृशन्त्यपि न तृप्यति॥
नहि स्पर्शोऽस्य विमलो रूपमेवतथा यतः॥ (तृ० ५/६)

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह,
यद्वद्विचित्र रचना मुकुरान्तराले।
बोधः पुनर्जित विमर्शनसारयुत्तया,
विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथातु॥
(तन्त्रसार–आ० ३)

*'तन्त्रालोक' में इस विषय को बड़े सुन्दर प्रकार से प्रतिपादित किया गया है।

२– तं० ३/१९

"अत्यन्त स्वच्छता सा यत्स्वाकृत्यनवभासनम् ।
अतः स्वच्छतमोबोधो, न रत्नं त्वाकृतिग्रहात् ॥"[1]

इस प्रकरण का तात्पर्य यही है कि 'यह संपूर्ण विश्वदर्पण प्रतिविम्ब-न्याय से संविद् में अवस्थित है, संविद्-भिन्नतया बाह्यरूप में कोई सद्-वस्तु नहीं है अतः उसमें अभिनिवेश का त्याग करके स्वात्मस्वरूप संविद् में ही आस्था करनी चाहिये ।

"पूर्वोक्त तत्त्ववर्ग और उससे उद्भूत संपूर्ण जगत् शिवमात्र में ही आश्रित है, शिव ही उसका एकमात्र प्राण है और वह एकमात्र शिव से ही प्रकाश्य है" यही इस दर्शन का रहस्य है।

प्रकृत "शिवसूत्र' में कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया" (३/३) "स्वशक्ति प्रचयोऽस्य विश्वम्" (३/३१) इत्यादि सूत्रों में इस विषय का संकेत किया गया है जिसकी विशद व्याख्या हिन्दी भाष्य में की गयी है।

विमर्श का स्वरूप

इस दर्शन में समस्त जगत् के मूलभूत पदार्थ को 'विमर्श' कहा गया है, दर्शनान्तर में विमर्श नाम से ऐसे पदार्थ की प्रसिद्धि नहीं है अतः इसके स्वरूप का निरूपण अप्रासङ्गिक न होगा। सिद्धमाहेश्वराचार्य श्रमिदभिनव गुप्त पादाचार्य ने ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी' में इसके स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है:—

गृह्यमाण वस्तु को प्रकाशभिन्न रूप से शब्दन = शब्दानुविद्ध करना ही विमर्श है।[2]

१–तं० ३/४८

२–"विमर्शो नाम प्रकाश्यमानस्य गृह्यमाणस्य वस्तुनः प्रकाशाव्यतिरिक्त शब्दनम्, सर्वंहि ग्रहणं शब्दानुगमनियतम्, यथोक्त हि तत्रभवता भर्तृहरिणा—

"नसोऽस्ति प्रत्ययोलोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥

सभी ग्रहण (ज्ञान) नियमतः शब्दानुविद्ध ही होता है, शब्दानुवेध के बिना प्रकाश = ज्ञान प्रकाशमान ही नहीं होता, अतः ज्ञान की वाग्रूपता ही प्रत्यवमर्शिनी है।[2]

आन्तर ज्ञान जो 'अहम्' इत्याकारक होता है, उसका अभिलापात्मक (संवादी) जो शब्दन है, वह शब्दन ही 'प्रत्यवमर्श' है। वह शब्दन बाह्यशब्द की भाँति संकेत की अपेक्षा नहीं करता, अपितु संकेत-निरपेक्ष ही होता है, अन्यथा सद्योजात बालादि में 'परामर्श = विमर्श उपपन्न ही नहीं हो सकता, किन्तु बालक में भी सूक्ष्म 'अहम्' ऐसा परामर्श संकेत ज्ञान के बिना ही विद्यमान रहता है अन्यथा अपने लिये स्तन्यादि (मातृस्तन के दुग्धादि) की अभिलाषा वह कैसे करता ? वह शब्दन अविच्छिन्न अर्थात् इदन्ता के स्पर्श से रहित होने से परमात्मभाव से अप्रच्युत और 'अहं' इत्याकारक स्वरूपास्वादरूप चमत्कारात्मक होता है, अतएव शिरःकम्पादि से किये गये वस्तुनिर्देश के समान ही अन्तर्मुख होता है।

इस प्रकार का यह विमर्श दो प्रकार का होता है। शुद्ध और अशुद्ध। विश्वाभिन्नसंविन्मात्र-विषयक अथवा विश्वच्छाया से अच्छुरित। शुद्धआत्म विषयक जो विमर्श है, वह शुद्ध विमर्श है, तथा वेद्यरूप शरीरादि में 'अहम्' इत्याकारकविमर्श अशुद्धविमर्श है। इन दोनों प्रकार के अहं प्रत्यय के दो भेद हैं। एक अनुभवरूप और द्वितीय अनुसन्धानरूप। जैसे शिवात्मा में 'अहमिदम्' तथा ईश्वरात्मा में 'इदमहम्' इत्याकारक अहंप्रत्यय अनुसन्धानरूप शुद्ध विमर्श है। 'मैं स्थूल हूँ' यह अशुद्ध अनुभव एवं जो मैं स्थूल था वही मैं 'अब कृश हूँ' यह अशुद्ध अनुसन्धान रूप विमर्श है। उनमें शुद्ध जो अहं प्रत्यवमर्श है वह शब्दानुविद्ध होने पर भी किसी अपोहनीय के न होने से अविकल्प (अपरिच्छिन्न) ही होता

२–वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥" (वा० प०)

प्रत्यवमर्शश्च आन्तराभिलापात्मकशब्दनस्वभावः, तच्च शब्दनं संकेत निरपेक्षमेवाविच्छिन्न चमत्कारात्मकमन्तर्मुख शिरोनिर्देशप्रख्यम्।"

है, और अशुद्ध विमर्श अपोह्य होने के कारग विकल्प (परिच्छिन्न) है। 'अहम्' वह विमर्श ग्राहक का, 'इदम्' अथवा 'इदमिदम्' यह ग्राह्यका, 'अहमिदम्' यह ग्राह्यरूप-रूषित ग्राहक का और 'इदमहम्' यह ग्राहक-रूपरूषित ग्राह्य का अथवा दोनों समान ही का परामर्श करते हैं। यह विमर्श ही प्रकाश और भावों का व्यवस्थापक है, यही चेतनों को जड़ से पृथक् करता हैं, प्रकाश तो सभी जड़ों का साररूप है, अतः प्रकाश सर्वरूप है। शब्दनात्मा जो विमर्श है वह जड़ों में नहीं होता वह मात्र-चेतनों में ही होता है, इसीलिये विमर्श जड़ और चेतन का विभेदक माना गया है।

वस्तुतः यह आभास (व्यवहार) दृष्टि से ही कहा गया है, परमार्थ दृष्टि में तो प्रकाशात्मरूप शिव ही अपनी स्वभावभूता स्वातन्त्र्यशक्ति से स्वयं को जड़ चेतनादि वैचित्र्यपूर्ण जगद्रूप में आभासित करता है। अतः परमशिवरूपतया सब कुछ चेतन ही हैं, जड़ है ही नहीं, जैसा कि ईश्वर प्रत्यभिज्ञा के ज्ञानाधिकार में कहा गया है—

"तथाहि जड़भूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया।
ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम्॥"[1]

जड़ कहे जाने वाले पदार्थ भी परमार्थतः चेतन ही हैं। ज्ञानमूलक क्रिया ही उनकी चेतनता है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने इस कारिका की व्याख्या में जड़ों की प्रकाशसारता कहते हुए परमार्थदृष्टि से इनकी चेतनता का प्रतिपादन किया है।

अप्रतिम प्रतिभाभास्वर भास्करीकार आचार्य भास्करकण्ठ ने तो इस प्रसङ्ग में बाह्य दृष्टि से भी जड़ कहे जाने वाले पदार्थों की चेतनता का प्रतिपादन सुस्पष्ट रूप से किया है।

यहां आचार्य भास्कर कण्ठ का कथन है कि "परमार्थ दृष्टि को रहने दीजिये, बाह्य दृष्टि से भी जड़ों की भी ज्ञानक्रियारुप चेतनता विद्यमान हीं है। वृक्षों को देखिये, उनमें ज्ञान क्रियात्मक चेतनता स्पष्ट ही है, अन्यथा उनका अपने पोषण के लिये रसाकर्षण, योग्य देश में मूल एवं

१– ई० प्र० १/४

शाखाओं का प्रसारण, ऊपर की ओर बढ़ाव कैसे संगत होता ? वृक्ष भूमि के अङ्ग हैं भूमि अङ्गी है अतः भूमि चेतन है क्योंकि निर्जीव अङ्गी का सजीव अङ्ग कहीं भी नहीं देखा जाता। जल की नियमतः–निम्न-देश की ओर गमन-रूपा क्रिया भी ज्ञानपूर्वक ही है, ऐसा अनुमान से ज्ञात होता है ज्ञान और क्रिया ही चैतन्य है यह पहले कहा गया है। तेज की ऊर्ध्वज्वलनरूपा एवं वायु की तिर्यग् गमनरूपा क्रियायें भी ज्ञान पूर्वक ही होती हैं अतः उनमें भी चेतनता स्पष्ट ही है, अवशिष्ट आकाश की भी चेतनता हृदयाकाश रूप से एवं कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न रूप से स्फुट ही है अतः सर्वत्र आकाश में ज्ञान अनुमान सिद्ध है। क्योंकि ज्ञान और क्रिया का अविनाभाव संबन्ध माना गया है यथा–

१–परमार्थ विचारेतु–

"भावव्रात ! हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन्
भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाद्य संक्रीडसे।
यस्त्वामाह जडं जडः सहृदयम्मन्यत्वदुःशिक्षितो
मन्येऽमुष्य जडात्मतास्तुतिपदं त्वत्साम्य संभावनात्॥"[1]

(तन्त्रालोक ३/३२)

इतिनीत्या सर्वेषां भावानां स्वरूपमपि चिन्मयमेवेत्येक प्रकाशवादः सर्वत्र प्रतिष्ठितः"।

इस श्लोक में 'भावव्रात' शब्द से 'जडवर्ग (दृश्यअर्थजात) को संबोधित करके कहा गया है कि–

हे भावव्रात ! अपने हृदय=यथार्थ चैतन्य स्वरुप को छिपाकर सामान्यजनों=सभी वादियों के हृदयों को बल पूर्वक अभिभूत करके विविध भङ्गिमाओं से उन्हें नचाते हुए *जिससे कोई तुम्हें सत् 'कहता है, कोई 'असत्' तीसरा 'सदसत्' एवं कोई नित्य कोई नाशवान्, कोई

*'यथा'–अद्यास्मानसतः करिष्यति सतः किंनुद्विधावाप्ययं
किं स्मान्नुतनश्वरानुत मिथो भिन्नानभिन्नानुत्।
इत्थं सद्वदनावलोकनपरै भावैर्जगद्वर्तिभिः
मन्ये मौन निरुध्यमानहृदयैर्दुःखेन संस्थीयते॥"

"न क्रिया रहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया"[1]

यदि कहा जाय कि 'आकाश की चेतनता उपाधि कल्पित है, तो इसके उत्तर में कहना है कि 'आकाश की चेतनता उपारिधकल्पित नहीं है भिन्न तो कोई अभिन्न-इस प्रकार उनके विविध भङ्गियों से युक्त नृत्य को देखते हुए) जो नट वत् अतात्विकरूप से गीडा करते हुए उल्लसित हो रहे हो, अतः उपर्युक्त सभी प्रकार का वादी जो असहृदय होते हुए भी अपने को सहृदय मानता है अत एव दुःशिक्षित = मूर्ख है वही तुझ अजड को जड कहता है। उसकी निन्दा करने के लिये यदि उसे 'जड' कहा जाय तब भी तुम्हारी समानता की संभावना से उससे भी उसकी स्तुति ही होगी निन्दा नहीं। क्योंकि वहतो जड से भी जड तर है। उसकी बुद्धि में यह भी नही आ रहा है कि 'जो प्रकाशमान है वह प्रकाश स्वरुप चेतन ही है जड कैसे ?

"परमार्थ दृष्टिस्तावदास्ताम्, बाह्यदृष्टयापि जड़ानामपि ज्ञान-क्रिया रूपा चेतनता विद्यतएव। तथाहि वृक्षास्तावत् स्फुटं तद्युक्ताः अन्यथातेषां स्वं प्रति रसाकर्षणं, योग्यदेशेमूलप्रसारणमारोहणं च न युज्यते। ततस्त-दीङ्गभूता भूरपि चेतनैव। नहि निर्जीवस्याङ्गिनोऽङ्ग सजीवं दृष्टम्।

जलस्यनियमेन निम्नदेशगमनरूपा क्रिया ज्ञानपूर्विकैवानुमीयते, तस्य ज्ञानाभावेतत्र गमनायोगात्। ज्ञानक्रिये एव च चेतनत्वमित्युक्तम्। तेजस श्चोर्ध्वज्वलनरूपा वायोश्च तिर्यग्गमनरूपा क्रिया च तादृश्येवेति तयोरपि स्फुटा चेतनता। अवशिष्टस्याकाशस्य च दहरत्वेन कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न-त्वेन च चेतनता स्फुटैवेतिसर्वत्र ज्ञानमनुमीयत एव। यस्तु तां तत्रोपाधि-कल्पितां मन्यते स जलादपीन्धनोपाधिना धूममुत्थापयतु, किमस्माकं तेन सह चर्चाभिः। यत्तु तेऽन्योऽन्यं स्वविषयैः प्रमातृभिः सर्वत्रचित्राः कथाः न कुर्वन्ति तत् स्वभाव विजृम्भितम्। स्फुटं चेतनत्वेन स्थितस्यापि चक्षुष स्तददर्शनात्, वागिन्द्रिय एव तदवगमात्। तर्हि स्वभाववादः एवास्तु ? भवतु सर्वत्र का नोहानिः ? अन्तर्यामिशुद्ध-चित्तत्त्ववशेनेन्द्रियाणांसाशक्ति रस्ति चेत्, सत्यम्, सर्वत्र तद्वशेनैव सास्तीति सर्वं जड़मेवोच्यताम् अजड़-मेव वेति किं विशेषकल्पनाभिः ?

१—नेत्रतन्त्र उद्योत भाग २

सकती ऐसा मानने पर इन्धनोपाधि से जल में भी धूम की कल्पना मान्य होने लगेगी, जो संभव नहीं है। चेतन होने पर भी स्वभाववश ये परस्पर वार्तालाप नहीं करते, जैसे स्फुट चैतन्य युक्त नेत्र कर्ण आदि परस्पर वार्तालाप नहीं करते, वागिन्द्रिय मात्र में ही उसकी क्षमता देखी जाती है ।

वस्तुतः प्रकाशरूप चेतन आत्मा ही अपनी स्वतत्र इच्छाशक्ति से अपने को तत्तत्स्वभाव-रूप में भी स्फुरित करता है अतः जो कुछ प्रकाशमान है सब चेतन ही है, प्रकाश से भिन्न = अप्रकाशमान कुछ है ही नहीं। जैसा कि कहा गया है "प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थोनाप्रकाशश्च सिद्धयति ।

प्रकाश और चेतन दोनों पर्यायवाची हैं अतः सभी भावों का स्वरूप भी चिन्मय ही है। इस प्रकार इस दर्शन में एक प्रकाशवाद ही सुप्रतिष्ठित होता है ।

शक्ति पञ्चक

असंख्यशक्ति शिव की पांच मुख्य शक्तियां मानी गयी हैं। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। ये नाम, जगत् के उन्मेष क्रम से हैं।
(१) चित्–उपर्युक्त प्रकार से विश्वरूप में स्फुरता उसकी 'चित्' शक्ति है।
(२) (आनन्द) आत्मा की प्रकाशरूपता उसकी विमर्शरूपता से अनुप्राणित है, अग्नि और उसकी दाहकता शक्ति की भांति, प्रकाशरूपता और विमर्शरूपता में भेद सर्वथा अचिन्त्य है, विमर्श चिदात्मा के प्रकाशरूप की प्रतीति है। वह विमर्श ही उसका स्वातन्त्र्य है, जिसमें आत्मा परनिरपेक्ष होकर स्वात्ममात्र की पूर्णता में विश्रान्त रहता है परनिरपेक्ष आत्मपूर्णता की प्रतीति ही उसका आनन्द है[1]

भेददर्शी अतएव अपूर्ण सांसारिक भोक्ता को स्वभिन्न भोग्य की अपेक्षा होती है, अतः उसका आनन्द अपने आप में विश्रान्त न होकर भोग्योन्मुख होने से परतन्त्र है परन्तु परमशिव से भिन्न कुछ है हो नहीं अतः वह अपने से भिन्न भोग्य से निरपेक्ष होने से सर्वथा स्वतन्त्र हैं स्वतन्त्र का पूर्ण विमर्श ही स्वातन्त्र्य है, यही उसकी आनन्दशक्ति है ।

चित्-अंश शिवभाव है आनन्द-अंश शक्तिभाव है। चित् (प्रकाश) और आनन्द (विमर्श) का सामरस्य ही परमभाव है, इस परमभाव को ही शैवागम में 'परासंवित्' 'परमशिव' कहा गया है।

इच्छा, ज्ञान और क्रिया–प्रकाश-विमर्श के इस सामरस्य में इच्छा, ज्ञान, क्रिया ये शक्तियाँ मयूराण्ड के रस में उसके वैचित्र्यपूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गोद्भावक शक्तियों की भांति पूर्ण समरसीभूत होती हैं और इस शक्ति सामरस्य में पूर्णनिर्विभागता रहती है, जैसा कि शिव दृष्टि में कहा गया है [1]—

(३) इच्छाशक्तिः जब परमशिव का स्वातन्त्र्य स्वभाव (स्वरूपपरामर्शरूप चमत्कार) अपने आपको विश्वरूप में उल्लसित करने के लिये उन्मुखसा होता है, उसके उस औन्मुख्य की इच्छाशक्ति का प्रथम-अंश (हेतु) कहा गया है [2]।

इस औन्मुख्य के स्वरूप का शिवदृष्टि की वृत्ति में इस प्रकार वर्णन किया गया है। निस्तरङ्ग शान्त जल के अतितरङ्गितरूपा-अवस्था की ओर उन्मुख होने पर जैसे पहले उसमें सूक्ष्मकम्प होता है वैसे ही स्वात्म विश्रान्त पूर्ण संवित् में आनन्दोच्छलित स्वभाव क्रीड़ा स्वरूप विश्वरचना के प्रति अत्यन्तसूक्ष्म अभिलाषामात्र होती है, इस सुसूक्ष्म अभिलाषा के आरम्भ (पूर्वभाग) को औन्मुख्य और उत्तर भाग को 'इच्छा' कहा गया है।*

१–"सुसूक्ष्मशक्तित्रितय सामरस्येन वर्तते।
चिद्रूपाह्लाद परमो निर्विभागः परस्तदा॥ शिव० १/४

२–"यदातुतस्य चिद्धर्मविभवामोद जृम्भया।
विचित्ररचनानाना कार्यसृष्टिप्रवर्तने॥
भवत्युन्मुखिताचित्ता सेच्छायाः प्रथमात्रुटिः॥" (शि० १/७-८)

* "यथाजलस्यपूर्वं निस्तरङ्गस्यातितरङ्गतांगच्छतः सूक्ष्मः पूर्वःकम्प औन्मुख्यरूपः दृश्यते, तथा बोधस्य स्वस्वरूपस्थस्य पूर्णस्यविश्वरचनां प्रति अभिलाषमात्ररचना-योग्यतायाः प्रथमो विकासः प्रवृत्यारम्भः तदौन्मुख्यं प्रचक्षते।" (शि० वृ० १/७/८)

स्वातन्त्र्योल्लास से चिद्रूप परमेश्वर की विभिन्न (ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय) रूपों में आत्मावभासन की अभिलाषा ही इच्छाशक्ति है ।

(४) ज्ञानशक्ति—यह इच्छाशक्ति विकसित होकर जब विश्वरूपी कार्य के प्रकाशन की शक्ति बनती है, तब इसे 'ज्ञानशक्ति' की संज्ञा दी जाती है ।[2]

इच्छाशक्ति जब किञ्चिन्मात्र वेद्योन्मुख होती है, तब वही ज्ञानशक्ति का रूप धारण करती है ।[3]

आभासक्रम से सदाशिवतत्त्व ही ज्ञानशक्तिमय है ।[4]

और ज्ञानशक्तिमय सदाशिवतत्त्व में इदन्ता रूपवेद्य की प्रतीति अस्फुट ही रहती है, जैसा कि भास्करी में कहा गया है—

"तत्रसदाशिवतत्त्वे इदं भावस्यध्यामलता ।"[5]

(५) क्रियाशक्ति— परमेश्वर अपने स्यप्रकाशरूप स्वरूप में क्रियाशक्ति के द्वारा विश्वात्मक भाव से नाना पदार्थों का भेद अवभासन करता है उस 'भासना' को ही शास्त्रों में 'क्रियाशक्ति' कहा गया है ।[6]

तन्त्रसार में 'सर्वाकार-योगित्वंक्रियाशक्तिः' ऐसा कहा गया है, भाव यह कि प्रार्थी की इच्छानुरूप आकाङ्क्षित वस्तुओं को प्रस्तुत करने वाली चिन्तामणि की भाँति क्रियाशक्ति परमेश्वर की यथाकाम सृष्टि के लिये नानारूप धारण कर असंख्य आभास रूपों को अपने अन्तर्गत प्रकाशित करती है, अतएव यह समस्तविस्फार क्रियाशक्ति का ही स्वरूप है—जैसा कि अभिनवगुप्त पादाचार्य का कथन है—

२—"परतस्तस्मिन् विश्वलक्षणे कार्ये यज्ज्ञानं तत्प्रकाशनशक्तिरूपता, सा ज्ञानशक्तिः" (शिवदृष्टि वृत्ति पृ० १८)

३—"अमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः" (तन्त्रसार ५/६)

४—ज्ञानशक्तिमान् सदाशिवः" (शिवदृष्टि वृत्ति पृ० ३७)

५—भा० भाग २, पृ० २२३

६—"भासना च क्रियाशक्ति रितिशास्त्रेषुकथ्यते ।
यया विचित्रतत्त्वादि-कलना प्रविभज्यते ॥" (भा०वि०वा० १/९०)

"क्रियाशक्तेरेवायं सर्वो विस्फार: [1]।"

उपर्युक्त विवरण के अनुसार चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया इन पाँच शक्तियों में चिद् आनन्द यह दो शक्तियाँ "परमेश्वर के प्रकाश विमर्शात्मक स्वरूप के अन्तर्गत ही हैं। केवल स्वातन्त्र्यपरामर्श-स्वरूप विश्व चिकीर्षात्मक इच्छाशक्ति ही स्वरसत: उत्तरोत्तर उच्छून होकर ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का स्वरूप धारण करके महेश्वर को विश्वरूप में आभासित करती है, जैसा कि आचार्यों का कथन है [2]—

इस प्रकार अग्नि और उसकी दाहिकाशक्ति की भाँति शक्ति शक्तिमान में अभेद होने से एकमात्र आत्माभिन्न परमशिव ही नानाप्रकार की विचित्रताओं के साथ सर्वत्र स्फुरित हो रहा है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है, जैसा कि शिवदृष्टि में कहा गया है [3]—

परमशिव ही परमकारण है, और उसकी सत्ता स्वत: सिद्ध है, क्योंकि जब सब उसी का लीलाविलास है और वही सबका प्रकाशक है तब उसके अस्तित्वप्रकाशक की कल्पना कैसे की जा सकती है [4]?

✠ स्पन्द ✠

शैवागम के अनुसार 'वह नित्यप्रकाश विमर्शस्वरूप है' यह पहले कहा गया है, प्रकाश स्वरूप के प्राधान्य में वह विश्वोत्तीर्ण है, विमर्श स्वरूप के प्राधान्य से वह विश्वरूप है। परमशिव की उक्त विमर्शरूपता

१–ई० प्र० वि० भाग २ ५०४२

२–"इच्छाशक्तिश्च उत्तरोत्तरम् उच्छूनस्वभावतया क्रियाशक्ति पर्यन्ती भवति।" ई० प्र० वि० भाग १ पृ० १७

'एकस्यापि इच्छाया: सूक्ष्मरूप ज्ञान क्रियाशक्ति संभेदेन त्रित्वात्'।

स्वच्छन्दतन्त्र टीका भाग १, पृ० ७

'शक्तयोऽस्य जगत्सर्वं शक्तिमाँस्तु महेश्वर:" तं० ५/४०

३–तस्मादनेक भावाभि: शक्तिभिस्तदभेदत:।

एकएव स्थित: शक्त:शिव एव यथातथा॥" शिवदृष्टि ४/५

४–कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।

अजड़ात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत क: ? ई० प्र० १/१/२

ही उसकी स्वात्ममयी स्वातन्त्र्यशक्ति है। परमशिव की इस स्वभावरूपा स्वातन्त्र्यशक्ति को स्पन्द शास्त्रों में 'स्पन्द' कहा गया है।[1]

अचल एवं शान्त परमेश्वर के भीतर शाश्वत एवं अभिन्नसमरस-भाव से रहने वाली स्वातन्त्र्यशक्ति के परामर्श से सृष्टि आदि पञ्चकृत्यों के उपयुक्त अन्तः स्मयमानता के समान सूक्ष्म स्फुरण जैसा जो स्वरूपभूत प्रकाश का उन्मेष है उसे ही यहां किञ्चिच्चलत्तात्मक धात्वर्थ के अनुगत होने से 'स्पन्द' शब्द से व्यवहृत किया गया है।[2]

प्रकाशस्वरूप स्वात्म महेश्वर से भिन्न कुछ है ही नहीं, उसकी अपने में स्वरूपानन्दोल्लासात्मक क्रीड़ा ही विश्वरूप में प्रकाशमानता है, वह परानपेक्ष स्फुरण ही किञ्चिच्चलत्ता है, निम्नाङ्कित उद्धरणों में यही भाव अभिव्यक्त किया गया है, यथा—

"किञ्चिच्चलनमेतावदनन्यस्फुरणं हि यत्।
ऊर्मिरेषा विबोब्धे र्न सविदनया विना॥"[3]

यहाँ स्पन्द शब्द से परमेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति की ओर संकेत किया गया है जिससे वेदान्तियों के सजातीय विजातीय-स्वगत सकल धर्मरहित ब्रह्मस्वरूप की अपेक्षा स्पन्दात्मक स्वातन्त्र्यशक्ति से अविनाभूत परमेश्वर को स्वीकार करने पर अनुभवगम्य कोई विलक्षण परमात्म स्वरूप का उत्कर्ष प्रतीत होता है।

इससे उद्यन्तृत्वरूप परमेश्वर का स्वभाव स्फुटतया अभिव्यक्त होता है, जिस निजस्वभाव के अधीन ही उसकी सृष्टि आदि पञ्चकृत्यकारिता संघटित होती है अन्यथा नहीं, क्योंकि निर्धर्मक ब्रह्म में अभिन्न निमित्तोपादान-कारणता स्वीकार करके यदि यथा कथञ्चित् प्रपञ्चजनकता

१–एष एव च विमर्शः, चित्, चैतन्यं, स्वरसोदिता परावाक्, स्वातन्त्र्यं कर्तृत्वं, स्फुरत्ता, स्पन्दः इत्यादि शब्दै रागमेषूद्घोष्यते।"

पराप्रावेशिका ८/८

–२श्रीभगवतः स्वातन्त्र्यशक्तिः किञ्चिच्चलत्वात्मक धात्वर्थानुगमात्, 'स्पन्द' इत्यभिहिता। स्पन्द निर्णय ५०३

३–किञ्चिच्चलनं हि नामैतदुच्यते–यद्बोधस्यानन्यापेक्षस्फुरणं प्रकाशनं परतोऽस्य न प्रकाशः अपितु स्वप्रकाशएवेत्यर्थः। तं० टीका ४/१८४

अथवा तद्भासकता मान भी लिया जाय, तथापि उसमें विलक्षण कर्तृत्व रूप स्वातन्त्र्य की स्वीकृति के बिना उसकी प्रपञ्चजनकता शब्दमात्र में ही विश्रान्त हो जाती है, अर्थ का स्पर्श नहीं करती। महर्षि पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में भी क्रिया में स्वातन्त्र्यशक्तिसंपन्न को ही कर्ता माना है।[1]

'निरुपादान संभारमभित्तावेवतन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाध्याय शूलिने॥[2]

१–(स्वतन्त्रःकर्ता) १/४/५४॥

२–यह श्लोक सायणमाधवीय सर्वदर्शन संग्रह के प्रत्यभिज्ञा-दर्शन प्रकरण (पृ० १७२) में—"अतएवोक्तं वसुगुप्ताचार्यैः" इस निर्देश के साथ अङ्कित है, यहाँ वसुगुप्ताचार्य के किसी ग्रन्थ का निर्देश नहीं है। उनके उपलब्ध ग्रन्थों (शिवसूत्र एवं स्पन्दकारिका) में यह श्लोक नहीं है। इससे अनुमान होता है कि वसुगुप्ताचार्य का दर्शनपरक कोई ग्रन्थ अवश्य रहा होगा, जिसके आधार पर उनके शिष्य आचार्य सोमानन्द ने 'शिवदृष्टि' की रचना की होगी। यह श्लोक उसी ग्रन्थ का विषयाद्यनुबन्धगर्भित 'मङ्गलाचरण' का श्लोक हो सकता है।

शिवदृष्टि-वृत्ति में आचार्य सोमानन्द के शिष्य श्री उत्पलदेव ने इस श्लोक का समानार्थक एक श्लोक 'प्रारम्भिक मङ्गलाचरण' के रूप में लिखा है— यथा—

"चिदाकाशमयेस्वाङ्गे विश्वालेख्य विधायिने।
सर्वाद्भुतोद्भवभुवे नमो विषमचक्षुषे॥" शिवदृष्टि वृत्ति

इस श्लोक के समर्थन में "श्री मधुसूदन कौल शास्त्री" ने अपनी टिप्पणी में आ० वसुगुप्त का पूर्वगुरुशब्द से निर्देश करते हुए लिखते हैं —

यदुक्तं पूर्वगुरुणा—

निरुपादान संभारमभित्तावेवतन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मैकलाश्लाध्यायशूलिने॥" स्त० चि० ५ श्लो०

इससे प्रतीत होता है कि यह श्लोक आचार्य वसुगुप्तके 'स्तवचिन्तमणि' नामक ग्रन्थ का है। जो उपलब्ध नहीं है।

विश्व कर्तृत्वलक्षण परमेश्वर का स्वातन्त्र्य यहाँ 'उपादानान्तर निरपेक्ष क्रिया निर्वाहकत्व' रूप ही है। वेदान्तमत में 'ब्रह्म' में 'कर्तृत्व' नहीं स्वीकृत है। शैवदर्शन के अनुसार सर्वकर्तृत्व ही परमेश्वर के उत्कृष्ट स्वरूप का निर्वाहक है, जैसा कि शिवसूत्र प्रवर्तक एवं स्पन्दकारिकाकार आचार्य वसुगुप्तपादने उपश्लोकित किया है—

इस पद्य में लौकिक चित्रकार की अपेक्षा भगवान् का जो व्यतिरेक अलंकाररूप में वर्णन है वही उनके इस प्रकार के विलक्षण कर्तृत्वरूप स्वातन्भ्य को अभिव्यक्त कर रहा है।

यह स्पन्दात्मक परमेश्वरीय वैभव परमेश्वरस्वरूप से अभिन्न ही है, अतः इसमें धर्म-धर्मिभाव मात्र व्यावहारिक ही हो सकता है पारमार्थिक नहीं, जैसा कि 'सेतुबन्ध व्याख्या में श्री भास्करराय का कथन है।

"परशिवाख्यं ब्रह्म स्वभावादनन्तशाक्तिकम् तदुक्तं ज्ञान वासिष्ठे—

सर्वशक्ति परं ब्रह्म नित्यमापूर्णमव्ययम्' । इति 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" इत्यादिश्रुतिभिः शक्ति-शक्तिमतोरभेदोपचाराच्च न ब्रह्मणोनिर्धर्मकत्वभङ्गः । संक्षेप शारीरकेऽपि—"चिच्छक्तिः परमेश्वरस्य।विमलाचैतन्यमेवोच्यते" 'इतिच'—

यह 'स्पन्द' रूपिणी चिच्छक्ति समस्त विश्व को व्याप्त करके उसके आगे भी फैली हुई है, जैसा कि भगवती श्रुति का कथन है "स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्" (स भूमा परस्पन्द प्रसर-स्वभावो भूमिं प्रमेयकक्षां स्वरूपेणापूर्य ततोऽप्यग्रे प्रसरत्येव) वह स्वात्म-भूतस्पन्द-शक्ति से प्रसरण करने वाला महेश्वर अपने प्रकाश-स्वरूप से भूमि प्रमेय विश्व को व्याप्त करके उसके आगे भी स्थित है। "पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इत्यादि श्रुतियां भी उपर्युक्त अर्थ का ही प्रतिपादन करती हैं।

चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्" इस मार्कण्डेय पुराणस्थ वाक्य में भी (क्तवा प्रत्ययान्त) व्याप्त और 'स्थिता' इन पदों से चिति की 'जगद्व्याप्ति के अनन्तर भी परसत्ता रूप से स्थिति है, ऐसा भाव व्यक्त किया गया है। इस प्रकार परापर द्विविध ब्रह्म, स्पन्दरूपा चितिशक्ति के कुक्षिगत ही है ऐसा जानना चाहिये।

यहां वेदान्तियों के मत पर कुछ विचार करना अप्रासङ्गिक न होगा। यथा–

वेदान्तियों के मत में परब्रह्म चिद् रूप है पर उसकी शक्ति 'माया' जड मानी गई है, वही जगत् का परिणामी उपादान कारण है पर ब्रह्म तो उसका विवर्तोपादान है अतएव जगत् मायिक होने से जड और मिथ्या है। अद्वैत श्रुतियों का तात्पर्य पारमार्थिक-तत्व की एकतामात्र में है।

यहाँ आगमविदों के पक्ष में ऐसा माना जाता है कि "परब्रह्मनिष्ठा जो चित् शक्ति है और जो उपनिषद् सम्मत भी है वही अनन्त रूप के कारण 'माया' शब्द से व्यवहृत है। "परास्य शक्ति विविधैवश्रूयते" 'माया च अविद्यास्वयमेव भवति' इत्यादिश्रुतियों में चित् शक्ति कोही 'माया' कहा गया है, उसका विलास ही तो प्रपञ्च है (चिद्विलासः प्रपञ्चोऽयम्-ज्ञानवासिष्ठ) अतएव यह सत्य ही है मिथ्या नहीं। क्योंकि 'सर्व ब्रह्म' इस सामानाधिकरण्य का अत्यन्ताभेद में ही स्वारस्य है। अद्वैतश्रुतियोंकातात्पर्य विरोधापादक एकमात्र भेद के ही मिथ्यात्व सिद्ध करने में है। अतः उनका कोई विरोध इस पक्ष में नहीं होता।

इस प्रकार शैवदर्शन के चैतन्याद्वयवाद और वेदान्ती के ब्रह्माद्वय वाद के विचार प्रकारों में यद्यपि मूलतः भेद प्रतीत होता है तथापि समन्वयदृष्टि से आग्रह छोड़कर विचार करने पर दोनों का अद्वैत-प्रतिपादन मात्र में ही श्रुति सम्मत तात्पर्य स्वीकार कर लेने पर विरोध नहीं रह जाता।

शैवदर्शन में 'माया' महेश्वर के स्वरूप-गोपन पूर्वक विभिन्न भूमिकाओं में क्रीडनार्थ स्वातन्त्र्यकल्पित है अत एव वह बन्ध का कारण नहीं है [1]।

चिदात्मस्वरूप महेश्वर की स्वभावभूता स्वातन्त्र्यशक्ति ही 'माया' है, वही 'स्पन्द' है, उसी के द्वारा महेश्वर वैचित्र्यपूर्ण विश्व की विभिन्न भूमिकाओं को ग्रहण करके क्रीडन करता है जिससे उसके महेश्वरत्व और चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है, अन्यथा–

१–'परमं यत्स्वातन्त्र्यं दुर्घट-संपादनं महेशस्य।
देवी, माया, शक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत्॥ (परमार्थसार १५)

"अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः"
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्ष्यद् घटादिवत्॥[1]"

यदि परब्रह्म महेश्वर स्पन्दात्मक (विश्वरूप में प्रसरणात्मक) शक्ति का त्याग करके सदा एक रूप में ही रह जाय तो महेश्वरत्व दुर्घट-संपादन स्वातन्त्र्य और चैतन्य का त्याग करके घटादि की भाँति जड़ ही हो जायगा।" इस युक्ति के अनुसार 'परब्रह्म' की भी घटादिवत् जड़त्वापत्ति अपरिहार्य हो जायगी।

आत्म-महेश्वर के इस व्यापक अर्थ को उद्भावित करने के लिये "चैतन्यमात्मा" इस शिवसूत्र में "चैतन्यम्" यह भाव प्रधाननिर्देश किया गया है। *

अपरिच्छिन्न प्रकाशरूप परमेश्वर का सारभूत 'चितिशक्ति' ही है। अतः सर्वव्यापक महोदधितुल्य परमशिव की चिद्रसतरङ्गपरम्परा-रूपिणी स्पन्दात्मिका जो पराशक्ति है, उसी की, व्याप्ति सकोचक्रम से चिति, चेतन, चेत्य और चित्त ये विभिन्न संज्ञायें हैं, यह संकोच-विकास-क्रम 'स्पन्द' रूप ही है, सूत्र में इन सभी स्पन्दावस्थाओं के संग्रहार्थ "चैतन्यमात्मा" ऐसा निर्देश किया गया है। इसी तत्त्व के प्रतिपादन के अभिप्राय से ही श्रीमत् शङ्करभगवत्पादाचार्य ने भी दक्षिणामूर्तिस्तव में स्तुतिरूप में शक्तिस्पन्द के माहात्म्य का वर्णन किया है—यथा—

"बीज स्यान्तरिवाङ्कुरोजगदिदं प्राङ्निर्विक पुनः
माया-कल्पित देशकाल-कलनावैचित्र्य-चित्रीकृतम्।
मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीवयः स्वेच्छया,
तस्मै श्री गुरुमूतये नमइदं श्री दक्षिणामूर्तये॥"

'माया' पद से यहाँ स्वातन्त्र्यरूपिणी स्पन्दात्मिका मायाशक्ति ही अभिप्रेत है।

प्रत्यभिज्ञा हृदय में भी कहा गया है—
'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति'।[2]

१- तन्त्रालोक ३/१००

* जैसा कि तन्त्रालोक में श्रीमदभिनवगुप्त पादाचार्य का कथन है—
"चैतन्यमिति भावातः शब्दः स्वातन्त्र्यमात्रकम्।
अनाक्षिप्त विशेषं सदाहसूत्रे पुरातने॥" तं० १/२८

२–प्र० हृ० १/२ क्षेमेन्द्र।

इस स्पन्दात्मिका चित्शक्ति का प्राथमिक उन्मेष प्राणरूप से होता है, जैसा कि कहा गया है—

"प्राक् संवित् प्राणेपरिणता"। प्राणोन्मेष ही मातृकोन्मेष है जो समग्र वाच्यवाचकात्मक विश्वरूप में अभिव्यक्त है। इस प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन तन्त्रालोकादि आकरग्रन्थों में है, विस्तारभय से उसपर प्रकाश डालना यहां संभव नहीं।

निष्कर्ष यह है कि विमर्शाख्य स्पन्दशक्ति से अविनाभूत ही भगवान् को 'परब्रह्म' कहना उचित है, जैसा कि कहा गया है—

"शिवःशक्तिरितिह्येकं तत्त्वमाहुर्मनीषिणः।"

महेश्वर की यह संवित् (चित्शक्ति) अनवच्छिन्न है, अतः व्यवहार भूमि में अवच्छिन्नता का भास होने पर भी मूलरूप में यह अखण्ड अनवच्छिन्न ही रहती है जैसा कि कहा गया है—

"कुम्भकारस्य या संविच्चक्रदण्डादियोजने।
शिवएव हि सायस्मात्संविदः का विशिष्टता ?॥"

भाव यह कि चक्रदण्डादि योजन में कुम्भकार की बोधानुप्राणित-शक्ति मूलबोध (अखण्ड पूर्णबोध) स्वरूप शिव से अभिन्न ही है।

विभिन्न भूमिकाओं में स्वेच्छावश क्रीड़नार्थ आरोहण-अवरोहण स्वरूप लीला-अभिनय करने के ही कारण शिवसूत्रों में उसे नर्तक कहा गया है [1]।

अपने अप्रतिहत स्वातन्त्र्य के ही कारण परमशिव अपने स्वरूप को प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि नानारूपों में कल्पित कर अनतिरिक्त को भी स्वात्मभित्ति पर अतिरिक्तवत् आभासित करता है, जगत् का अपने अन्दर आभासन और फिर उस आभासित जगत् का अपने अन्दर विलापन ही उसका स्वातन्त्र्य रूप कर्तृत्व है [2]। पंचविध कृत्य शिव का स्वभाव स्वातन्त्र्य ही है।

१—"नर्तक आत्मा" शि० सू० ३/२

२—"कर्तृत्वं चैतदेतस्य तथा मात्रावभासनम्" तन्त्रालोक ९/२२

इसी कर्तृत्व स्वभाव से वह सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह रूपात्मक पञ्चविधकृत्यों में निरन्तर संलग्न रहता है[1]।

आत्म-विलास के हेतु ऐसा करते हुए भी वह अपने परिपूर्ण स्वातन्त्र्य स्वभाव से तनिक भी च्युत नहीं होता, और नित्यपूर्ण अहन्ता के परामर्श में ही विश्रान्त रहता है[2]।

सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह उसका पञ्चरूपात्मक स्वातन्त्र्य है, और यही उसका ऐश्वर्य है। वह अपने स्वभावभूत स्वातन्त्र्य के माहात्म्य से भूत, भाव, भुवनादिभेदभिन्न अनन्तरूपों से अपने में अवच्छेद का त्याग करके भासमान है, ऐसा होने पर भी अपने प्राच्य-स्वरूप से अप्रच्युत होने के कारण अनवच्छिन्न परप्रकाशात्मक ही रहता है[3]।

सृष्ट्यादि क्रीड़ा में वह अपनी स्पन्दशक्ति से पूर्ण समर्थ है, उसके स्पन्द का उल्लास-रूप यह समस्त विश्व उसकी परमेश्वरता का ही एक अङ्ग है। इस प्रकार संपूर्ण शिवशक्त्यात्म अद्वैत ही है। इस भाव को आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया है[4]।

१—"एषदेवोऽनयादेव्या नित्यं क्रीड़ारसोत्सुकः।
विचित्रान् सृष्टि संहारान् विधत्ते युगपद्विभुः॥" बोधपञ्चदशिका श्लो. ४
"शिवादिक्षितिपर्यन्तं विश्वं वपुरुदञ्चयन्।
पञ्चकृत्यमहानाट्य-रसिकः क्रीडतिप्रभुः॥"
अनुत्तर प्रकाशपञ्चाशिका श्लोक २

२—"निगृहीतानुगृहीततत्तत्प्रमातृं स्तत्तत्प्रमेयजातं च स्वभित्तौदर्पणनगरवत्सएवोट्टङ्कयन् पञ्चकृत्यकारितांनिर्भासयन्नपि नमनागपि अतिरिच्यते।"
क्षेमराज स्वच्छन्दतन्त्र टीका, भाग ३ पृ० ९६।

३—"तथाहि स्वस्वतन्त्रत्त्व-परिपूर्णतयाविभुः।
निःसंख्यैर्बहुभीरूपै र्भात्येवच्छेदवर्जनात्॥" तन्त्रालोक ९/५२-५३

४—"निराशंसात्पूर्णादहमिति पुराभासयतियद्
द्विशाखामाशास्ते तदनु च विभक्तुं निजकलाम्।
स्वरूपादुन्मेषप्रसरण-निमेषस्थितिजुष-
स्तदद्वैतं वन्दे परमशिवशक्त्यात्म-निखिलम्॥
ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी भाग १, श्लोक १

प्रमातृ भेद और मलत्रय

अप्रतिहतशक्ति एक परमेश्वर ही सर्वत्र अवस्थित है, वही अपने स्वातन्त्र्य-स्वभाव के कारण प्रमातृ-प्रमेयादि अनन्तरूपों में आत्मअवभासन की इच्छा से नानारूप धारण करता है। किन्तु जगल्लीला में नानारूप धारण करके भी वह अपने विश्वोत्तीर्ण स्वरूप से उसी प्रकार च्युत नहीं होता, जिस प्रकार अनन्त वीचिमालाओं के रूप में विलसित होकर भी सागर अपने वीचिरूपोत्तीर्ण सागरत्त्व से च्युत नहीं होता। अतएव जो कुछ है वह सब परमेश्वर का ही स्वातन्त्र्यविलास है, और परमार्थतः परमेश्वर से भिन्न तो कुछ है ही नहीं, इसे हम अनेकशः कह आए हैं।

उक्त अनन्त रूपों का अवभास परमेश्वर मलों की कल्पना द्वारा करता है, मल-कल्पना उसकी स्वरूपगोपन की क्रीड़ा है [1]।

इस क्रीड़ा में वह अपने पूर्ण रूप में ही संकोच का अवभासन करके अनन्त जीवाणुरूप में अवभासित होने लगता है, और अभिनयरसमग्नतावश अपने को स्वरूपविस्मृतसा अभिव्यक्त करता है। इस लीला की प्रगाढता यथार्थभाव को ग्रहण करके 'बन्धन' बन जाती है। इस विषय की व्याख्या आचार्य क्षेमराज ने स्वच्छन्दतन्त्र की टीका में की है[2]।

१–"आत्मप्रच्छादनक्रीड़ामात्रमेव मलंविदुः"

मालिनी विजयवार्तिक २/१८६

"देवः स्वतन्त्रश्चिद्रूपः प्रकाशात्मास्वभावतः।
रूपप्रच्छादनक्रीड़ा योगाणुरनेककः॥"

तन्त्रालोक आ० १३, श्लो० १०३

२–"इत्थं च माया-शक्त्यापुर्यष्टकादौ गृहीताभिमानोऽयं विश्वभित्तिभूत परिपूर्ण-बोध-रूपतया स्फुरन्नपि असौ संकोचावभासात्मना तावता अंशेन स्वयमेव बध्यते। यथोक्तं प्राक्–

आत्मना बध्यते ह्यात्मा·········।

स्वच्छन्दतन्त्र टीका भाग ६, पटल १२, पृष्ठ ५२

वस्तुतः जीवभावगृहीत शिव का अपने स्वातन्त्र्य-भाव को यथार्थतः न जानना ही उसका अज्ञान है और अज्ञान की ही पारिभाषिक संज्ञा मल है।[1]

मल के तारतम्म के विचार से शैव शास्त्राचार्यो ने प्रमाताओं का मुख्यतः ७ श्रेणियों में वर्गीकरण किया है, वस्तुतः संवित्-स्वरूप ध्रुव है, उसमें वास्तविक भेद नहीं है, तथापि आणव मल रूपी आवरण के परि-क्षय के तारतम्य से भेद प्रतीत होता है।[2]

मल मूलतः तो एक ही है किन्तु शास्त्रकारों ने समझाने के लिये उसे तीन रूपों में विभक्त किया है, जिनकी शास्त्रीय संज्ञाये आणव, मायीय और कार्म हैं। शिवस्वरूप के संकोचमात्र को 'आणव' कहते हैं।[3]
अणुता को प्राप्त प्रमाता की भेददृष्टि को 'मायीयमल कहा जाता है।[4]

इस भेद दृष्टिरूपी मायीयमाल के प्रभाव से प्रमाता जगत् को अपने से भिन्न समझने लगता है।

जीव की संकुचद्रूपता से पूर्णता की ओर जाने की जो प्रच्छन्न अभिलाषा है वही मायीय भेददृष्टि के प्रभाव से प्रत्यक्षरूप में नियति के अधीन सांसारिक परिच्छिन्न विषयों की ओर आकृष्ट होकर 'कार्ममल' का रूप ग्रहण कर लेती है। कार्ममल को जीव की जन्म-मरण संसृति का मुख्य कारण माना गया है।[5]

१–अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदितः शास्त्रे मलं तत्स्मृतम्"
तन्त्रसार, आ० १, पृ० ५

२–संविद्रूपेण भेदोऽस्ति वास्तवो यद्यपि ध्रुवे।
तथाप्यावृत्ति-निर्ह्रासतारतम्यात्स लक्ष्यते॥
तन्त्रालोक आ० १, श्लोक १३८

अन्यत्रभी–"शिवादि सकलान्ताश्च शक्तिमन्तः सप्त"
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग२, पृष्ठ २२९

३–संकोच एव पुंसामाणवमलमित्युक्तप्रायम्"
स्वच्छन्दतन्त्र टीका भाग ५,२ पृ० ५०९

४–भिन्न वेद्यप्रथात्रैव मायाख्यम्" (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ३/२/५)

५–"तथापि कार्ममेवैकंमुख्यं संसारकारणम्"
उत्पलदेव (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ३/२/१०)

उक्त मलत्रय से संबद्ध जीवात्मा अपने शिवस्वभाव के अज्ञान के कारण आत्म-सत्ता-स्वरूप अद्वयभाव चैतन्य को भी प्रमातृ प्रमाण प्रमेय रूप नानारचनाप्रपञ्चभाव से देखने लगता है।

परमशिव शुद्ध प्रकाश रूप है और अग्नि-दाहिकावत् विमर्श-रूपिणी आत्मशक्ति से अभिन्न है अतः वह प्रकाशमय (बोधरूप) भी है और विमर्शमय (कर्तृरूप) भी है। परमेश्वर की यह कर्तृता शुद्ध कर्तृता-मात्र है अर्थात् स्वरूप-विमर्श की कर्तृता है अपने से भिन्न किसी विषय के प्रति रहने वाली कर्तृता नहीं, क्योंकि परमेश्वर से भिन्न किसी की सत्ता तो सर्वथा अचिन्त्य ही है। परमेश्वर आणवमल (स्वरूपतिरोधित्सा) की कल्पना से स्वरूप संकोच करता है। *

यह स्वरूपसंकोच दो प्रकार का होता है शुद्धबोधरूप की स्वातन्त्र्य हानि से, और शुद्ध स्वातन्त्र्य की अबोधता एवं प्राण, बुद्धि शून्यादि अबोध रूपों में अहन्ताभिमान रूप संकुचित कर्तृत्त्व से।[1]

जिन प्रमाताओं में शुद्ध बोध-रूपता होने पर भी उत्तम स्वातन्त्र्य रूप कर्तृता का अभाव (स्वातन्त्र्य-हानि) होता है। वे परमेश्वर-रूपता को न प्राप्त होने के कारण, परमेश्वर से व्यतिरिक्त होते हैं, क्योंकि परमेश्वर में शुद्ध बोध-रूपता के साथ शुद्ध-कर्तृता भी विद्यमान होती है।

स्वातन्त्र्य से विरहित ये बोध-रूप प्रमाता शरीर से लेकर शून्य तक के प्रमातृ पदों से उत्तीर्ण होते हैं, इन सब में बोधत्त्व, नित्यत्त्व, विभुत्त्व-आदि धर्मों की समानता होने पर भी "मैं भेद से निर्भासित होऊँ" इस प्रकार की परमेश्वर की इच्छा-विशेष से ये एक दूसरे से भेद युक्त होते हैं, अतः बोध-रूप होते हुए भी ये प्रमाता परमेश्वर से और एक दूसरे से

---

* "ईश्वरस्य च या स्वात्मतिरोधित्सा निमित्तताम्।
साम्येति कर्ममलयोरतोऽनादिव्यवस्थितिः॥"
"ईश्वरस्य स्वरूपतिरोधित्सैवतावदाणवस्यमलस्य कारणम्"।
तन्त्रालोक टीका आ० १३, श्लोक ११०

१–स्वातन्त्र्य हानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः॥"
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा ३/२/४

भिन्न होते हैं, ऐसे प्रमाताओं को शैव शास्त्रों में 'विज्ञानकेवल' अथवा विज्ञानाकल कहा गया है [1]।

ये केवल आणवमल वाले प्रमाता हैं। कर्तृत्वशून्य केवल शुद्धबोध रूप (प्रकाशरूप) को ही 'विज्ञानंब्रह्म' कहने वाले वेदान्तियों की यही ब्रह्मदशा है, जो अद्वैतनिष्ठ शैवों के अनुसार प्रथम प्रकाश के आणवमल (स्वातन्त्र्यहानि) से युक्त हैं और स्वातन्त्र्यात्मक स्पन्दशक्ति के बिना स्फटिक आदि के समान जड़ोपम हैं [2]।

प्रलयाकल–अबोधरूप शून्य, बुद्धि आदि में ही अहंभाव से कर्तृत्व के अभिमानी प्रमाता प्रलयाकल कहलाते हैं। अपने शुद्ध स्वातन्त्र्य को भूलकर प्राण, बुद्धि, शून्य जैसे अबोधरूप में अहंभाव का अनुभव करने के कारण इनका कर्तृत्व संकुचित हो जाता है। इनमें आणवमल के प्रकारद्वय अर्थात् स्वातन्त्र्य की अबोधता और बोधरूपता के स्थान पर अबोधरूपता में अहन्ताभिमान के साथ कार्ममल भी विद्यमान रहता है, जो धर्माधर्म रूप में पुनर्जन्म का कारण बनता है [3]।

१–शुद्धबोधात्मकत्वेऽपि येषां नोत्तमकर्तृता।
निर्मिताः स्वात्मनो भिन्ना भर्त्रा ते कर्तृतात्ययात्॥
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा ३/२/६

"परमेश्वरस्य तूत्तम स्वातन्त्र्याावियुक्त-बोधरूपत्वम्।"
ईश्वर प्र० विमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २२३

"व्यापकनित्यबोधस्वभावोऽपि 'अहंभेदेन निर्भासि' इत्येवंभूतेनेश्वरेच्छाविशेषेणयेषां शरीरादि-शून्यान्त-प्रमातृपदोत्तीर्णानांबोधत्व-नित्यत्व-विभुत्वादि धर्मजातस्यैक्येऽप्यन्योऽन्यंभेदः ते शास्त्रे 'विज्ञानकेवला' उक्ताः। तत्रविज्ञानकेवलोमलैकयुक्तः॥" ईश्वर प्र० विमर्शिनी भाग २, पृ० २२४

२–"ऐश्वर्यात्मक विमर्श शून्यप्रकाशमात्रतत्वो ब्रह्मरूपोऽपि यच्छु त्यन्तविदः प्रतिपन्नाः 'विज्ञानं ब्रह्मइति, तस्यापि स्वातन्त्र्यात्मक स्पन्दशक्ति बिना जड़त्वात्।" क्षेमराज स्पन्दनिर्णय पृष्ठ १७, १८

३–"शून्याद्यबोधरूपास्तु कर्तारःप्रलयाकलाः।
तेषां कार्मोमलोऽप्यस्ति मायीयस्तुविकल्पितः॥"
उत्पलदेव ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा ३/२/८

प्रलयकाल तक ये अबोधरूपकर्ता मुक्त से रहते हैं, परन्तु प्रलयकाल के अनन्तर नये कल्प में पुनः जन्म-मरण रूप संसारचक्र के बन्धन में पड़ जाते हैं। *

प्रलयाकलों की दो अवस्थाएँ मानी गई हैं। संवेद्यसुषुप्ति अवस्था और अपवेद्यसुषुप्ति-अवस्था। संवेद्य सौषुप्तपद में लीनप्रलयाकलों में भिन्नवेद्यप्रथारूप मायीयमल का अंश भी विद्यमान रहता है। अतः इनमें तीनोंमल विद्यमान रहते हैं। परन्तु अपवेद्यसुषुप्ति अवस्था में रहने वाले प्रलयाकलों में दो ही मल होते हैं।[1]

स्थूलदेह एवं स्थूल इन्द्रिय रूप कार्य एवं करणों का अभाव सभी प्रलयाकलों में समानभाव से रहता है।[2]

सृष्टि दशा में स्फुट मलत्रय से आविष्ट साधारण प्राणी की संज्ञा 'सकलप्रमाता' है।[3]

मलत्रय से पूर्णतः संबद्ध सभी सकलप्रमाता जन्म, मरण, जरा व्याधि, क्षुधा, तृषा, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि आधि-व्याधियों से निरन्तर दुःखित होते रहते हैं।

सकलप्रमाताओं के चौदह वर्ग हैं। देवताओं के आठ वर्ग, तिर्यग् आदि के पाँच और मनुष्यों का एक वर्ग है।[4]

ये सभी प्रमाता कार्ममल युक्त होने से संसृति के दुखों से परितप्त रहते हैं। कुछ ऐसे प्रमाता होते हैं जो अपने को पूर्ण-बोधरूप एवं स्वातन्त्र्य (कर्तृत्व) युक्त अनुभव करते हैं परन्तु सर्वज्ञ तथा सर्व कर्तृत्व युक्त

---

*—"प्रलयावधि ते तथाभूता उत्तरकाले तु कार्यकरणसंबद्धा एव भवन्ति" ईश्वर प्र० विमर्शिनी पृ० २२५

१—"संवेद्यरूपे सुषुप्तपदे अस्तिमायीयोमलः अपवेद्येतुनभवति"
ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी भाग २, पृ० २२५

२—स्थूल-देहेन्द्रियात्मककार्यकरण-वियोगरूपत्वंतुप्रलयाकल लक्षणं सर्वेषांतुल्यम्"। (ई० प्र० वि० पृ० २२५)

३—मलत्रयोपरक्ताः सकला मायातत्त्वान्तरालवर्तिनः"।
(महार्थमञ्जरी टीका पृ० ३२)

४—अष्ट-विकल्पो दैव स्तैर्यग्योन्यश्च पञ्चधाभवति।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः"। (सांख्यकारिका ५३)

होकर भी वे वेद्य जगत् को कुविन्द-पट-न्याय से अपने से भिन्न ही समझते हैं। अर्थात् जैसे कुविन्द (जुलाहे) को स्वनिर्मित पट भी कार्य रूपतया अपने से पृथक् प्रतीत होता है। उसी प्रकार ये प्रमाता शुद्ध चिन्मात्र में अहन्ता-अभिमानी एवं स्वातन्त्र्य युक्त होकर भी स्वनिर्मित वेद्य जगत् को अपने से पृथक् ही समझते हैं। ऐसे प्रभाताओं को शास्त्रकारों ने "विद्येश्वर" शब्द से अभिहित किया है।[1]

इन 'विद्येश्वर' प्रमाताओं की अवस्थिति विद्यापद में होती है। यथा—"विद्यापदे च विद्येश्वरादीनामवस्थितिः[2]"

इन्हें 'मन्त्र प्रमाता' भी कहा जाता है।

मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर विद्येश्वर-प्रमाताओं से उत्कृष्ट प्रमाता वे हैं जो शुद्ध विद्यातत्व के अनुभवी हैं। शुद्ध 'अहम्' के चिन्मात्र रूप अधिकार में जब 'इदम्' अंश का उन्मेष होता है, तब जिन प्रमाताओं में 'इदन्ता' का आन्तर अवभास अस्फुट रूप से होता है, वे प्रमाता 'मन्त्र महेश्वर' कहलाते हैं और उनकी अवस्थिति 'सदाशिव' तत्व में होती है।

जिनमें वह 'इदन्ता' का अवभास स्फुटरूप में होता है उन्हें 'मन्त्रेश्वर प्रमाता कहते हैं, वे ईश्वरत्व में अवस्थित रहते हैं। मन्त्रेश्वर प्रमाता के 'अहं' इत्यात्मक शुद्ध विमर्श में इदन्ता का अवभास स्फुटरूप से रहता है, अतः इसमें दोनों भानों का समप्राधान्य है, परन्तु मन्त्र महेश्वर प्रमाताओं के विमर्श में इदन्ता का अवभास अस्फुट होने से अहंभाव का प्राधान्य होता है, अतएव मन्त्र-महेश्वर-प्रमाता मन्त्रेश्वर–प्रमाता की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि का माना जाता है।

मन्त्र-महेश्वर-प्रमाता की अपेक्षा भी उत्कृष्ट अतएव सर्वोत्कृष्ट प्रमाता स्वय भगवान् शिव ही हैं। जहाँ प्रमेय कल्पना (इदन्ता) का संस्पर्श तक नहीं होता और केवल एक शुद्ध 'अहन्ता' का ही विमर्श

१–ये "चिन्मात्रमेवात्मतया पश्यन्ति 'अहम्' इति च चमत्कारोल्लासात् कर्तार स्तत एव सर्वज्ञाः सर्वकर्तारश्च ते विद्येश्वराः। किन्तु तनुकरणभुवनादि यदेषां वेद्यतया कार्यतया च भाति तत् कुविन्दपटदृष्ट्या भिन्नमेवसत्।"

(ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी भाग २, पृ० २२६)

२–ई. प्र. वि. भाग २ पृष्ठ २०१

होता है। शिव प्रमाता सर्वथा शुद्ध एवं उपेयपद का प्रमाता है, क्योंकि शिव ही तो वस्तुतः परमशिव है।

मन्त्रों (विद्येश्वरों), मन्त्रेश्वरों और मन्त्रमहेश्वरों में स्वरूप संकोच की अतिसूक्ष्म कल्पना होती है, विज्ञानाकल प्रमातृदशा से ऊपर शिवभाव के समावेश के आरोहक्रम में उक्त स्वरूप-संकोच की अतिसूक्ष्म कल्पना को-

क्षीयमाण आणवमल की चार अवस्थाएँ मानकर स्पष्ट किया गया है। क्षीयमाण आणवमल की वे चार अवस्थायें इस प्रकार हैं— (१) किञ्चिद्ध्वंसमान, (२) ध्वंसमान, (३) किञ्चिद्ध्वस्त और (४) ध्वस्त। इन चार स्थितियों के प्रमाताओं की संज्ञाएँ क्रमशः मन्त्र (विद्येश्वर), मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर और शिव हैं।

अतः स्पष्ट है कि मन्त्रप्रमातृदशा से 'स्वरूप-संकोच' क्षीण होता हुआ शिव प्रमातृदशा में पूर्णतः ध्वस्त हो जाता है, अर्थात् शिवपूर्णतः मलोत्तीर्ण हैं। इसलिए शिवसर्वथा शुद्ध प्रमाता हैं।

तन्त्रालोक के इस प्रकरण में 'विज्ञानाकलप्रमाता' में आणवमल की 'दिध्वंसिषु' अवस्था का उल्लेख किया गया है, इस प्रकार विज्ञानाकल से शिवपर्यन्त पाँच वर्ग के प्रमाताओं में मलक्षय की पाँच दशाओं का वर्णन है। जो इस प्रकार है—यथा—

"दिध्वंसिषु ध्वंसमान ध्वस्तख्यासु तिसृष्वथ ॥
दशास्वन्तः कृतावस्थान्तरासु स्वक्रमस्थितेः।
विज्ञानाकल-मन्त्रेशतदीशादित्व-कल्पना * ।"

इस श्लोक में 'अन्तः कृतावस्थान्तरासु' इस पद से किञ्चिद्ध्वंसमान और 'किञ्चिद्ध्वस्त' इन दो अवस्थाओं का समावेश अभिप्रेत है, और 'आदि' पद से शिवप्रमाता अभिप्रेत है। इस प्रकार विज्ञानाकल से शिवपर्यन्त पाँच प्रकार के प्रमाताओं में मल (संकोच) की दशायें क्रमशः दिध्वंसिषु, किञ्चिद्ध्वंसमान, ध्वंसमान, किञ्चिद्ध्वस्त और ध्वस्त रूप में होती हैं। अतः ऊपर के प्रमाताओं की भाँति 'विज्ञानाकल' प्रमाता का भी शिवीभाव निश्चित ही है, क्योंकि जो बीज निनंक्षु है वह अंकुरित नहीं हो सकता, अपितु नष्ट ही होगा वैसे ही जो मल दिध्वंसिषु है वह

---

* तन्त्रालोक आ० ९, श्लोक ९५, ९६

संसृति का हेतु कभी नहीं बन सकता अपितु ध्वस्त होकर अपने शिव-स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा का ही हेतु बनेगा।

इस प्रकार मुख्यतः सात प्रमातृ कोटियाँ मानी गई हैं[1]।

अवान्तर भेद से इनमें अनन्त प्रकार हो सकते हैं—यथा

"शिवादि सकलान्ताश्च शक्तिमन्तः सप्त इत्युक्तम्। तत्राप्यन्तर भेदेन गुणमुख्यताभेदेन विकल्पसमुच्चयतादिभेदेन चानन्तप्रकारत्व-मिति[2]।।"

अध्वा :–

जिस प्रकार लोक में गन्तव्य स्थान पर पहुंचने का साधन अध्वा (मार्ग) होता है, उसी प्रकार शैव दर्शन में प्राप्य शिव तक पहुंचने का कारण अध्वा है, जिस प्रकार गङ्गा-प्रवाह के मार्ग से उलटे चल कर उसके उद्‌गम तक पहुंचा जा सकता है, उसी प्रकार देश और काल रूपी मार्ग से प्रसृत संवित्प्रवाह के मूल तक देश काल रूपी अध्वा के सहारे पहुंचा जा सकता है। इसी भाव से इस दर्शन के शास्त्रकारों ने अध्वा का निरूपण विस्तार से किया है। इस शब्द का निर्वचन शास्त्रों में दो प्रकार से किया गया है, (१) अध्वा इव अध्वा (२) अद्यते इति अध्वा। अर्थात यह प्राप्य (स्वरूप शिव) तक पहुंचने के लिये अध्वा (मार्ग) के समान है अतः यह अन्तर्मुख मुमुक्षु जनों के मोक्ष का साधन होने से अध्वा कहा जाता है। साथ ही देश काल में फैला हुआ यह संसार बहिर्मुख भेद दर्शियों के लिये अद्य (अदनीय भोग्य) रूप है अतः यह उनके लिये अध्वा (भोग्य) है इस कारण से भी इसे 'अध्वा' कहा गया है। जिन भाग्यवानों को स्वरूप-भूत-संवित्तत्त्व का बोध हो गया है उनके लिये भी यह विश्व संविद्‌रूप से आत्मसात्-कृत (स्वरूप ग्रस्त) होने के कारण अद्य (ग्रासभूत) ही है।

"अध्वाक्रमेण यातव्ये पदे संप्राप्तिकारणम्।[3]

द्वैतिनां भोग्यभावात्तु प्रबुद्धानां यतोद्यते ।।

१–"मुख्यत्त्वेन तु सप्तैव मातृभेदः प्रकीर्तिताः"

मालिनी विजय वार्तिक १/९६०

२–ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी भाग २, पृष्ठ २२९

३–अभिनव गुप्त–तन्त्रालोक आ०

यह अध्वा मूलतः दो प्रकार का है देश और काल। इनमें मूर्ति द्वारा देश-क्रम और क्रिया द्वारा कालक्रम का अवभास होता है [1]।

उनमें क्रियाभासनात्मक कालाध्वा, वर्ण, मन्त्र, पद-भेद से तीन प्रकार का है। वर्ण पररूप है, मन्त्र सूक्ष्म और पद स्थूल स्वरूप है। उसी प्रकार मूर्तभासनात्मक देशाध्वा भी पर, सूक्ष्म और स्थूल रूप से तीन प्रकार का है। उनमें पर 'कला हैं, सूक्ष्म 'तत्व' और स्थूल 'भुवन' हैं। इस प्रकार अध्वा के छः भेद होते हैं। [2]

इस देश काल प्रसार का संविद् रूप में विलय करके योगी शिव स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। अध्वाओं एवं उनके विभिन्न साधनों का विस्तार से वर्णन तन्त्रालोक के आह्निक ६ से ८ तक में किया गया है। अतः इसे वहीं से जानना चाहिये, विस्तार भय से यहाँ उसका निरूपण संभव नहीं।

बन्ध और मोक्ष

काश्मीर शैव-दर्शन के अनुसार बन्ध वस्तुतः नही होता किन्तु अज्ञान के कारण यह अनादि काल से प्रतीत हो रहा है अतः बन्ध का कारण अज्ञान है। अज्ञान का तात्पर्य यहां ज्ञान के अभाव से न होकर उस परिमितज्ञान से है जो आणव मल के कारण सांसारिक जीवों में होता है। सांसारिक जीवों के इसी अपूर्ण ज्ञान को शिवसूत्रों में बन्धस्वरूप कहा गया है। [3]

१–"मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रमभासयत्यसौ।
क्रिया वैचित्र्य-निर्भासात् काल क्रममपीश्वरः॥"
(ईश्वर प्रत्यभिज्ञा २/१/५)

२–"तत्र क्रियाभासनंयत् सोऽध्वा कालाह्व उच्यते।
वर्ण, मन्त्र, पदाभिख्य मन्त्रास्तेऽध्वत्रयं स्फुटम्॥
यस्तु मूर्त्यवभासांशः सदेशाध्वानिगद्यते।
कला,तत्त्व,पुराभिख्य मन्तर्भूतमिहत्रयम्॥
त्रिकद्वयेऽत्र प्रत्येकं स्थूलं सूक्ष्मं परं वयः।
यतोऽस्ति तेन सर्वोऽयमध्वाषड्विधउच्यते॥
(तन्त्रालोक आ०६, श्लोक ३३-३६)

३–"ज्ञानं बन्धः" शिवसूत्र १/२

"चैतन्यमात्मा ज्ञानंबन्धः" इस सन्धिपाठ में 'अज्ञानंबन्धः' ऐसा भी सूत्र का स्वरूप माना गया है, उस पक्ष में 'अपूर्णज्ञानम् अज्ञानम्' ऐसा अर्थ मान्य है [1]।

इस अज्ञान की शास्त्रीय संज्ञा 'मल' है। इस मल का कारण परमशिव का स्वातन्त्र्य है जिससे वह अपने आप में अवरोहण और आरोहण की कल्पना करता है। अवरोहण की कल्पना उसकी स्वात्म-प्रच्छादन की इच्छारूप क्रीडा है। परमेश्वर की इस स्वरूपगोपन की इच्छा रूप क्रीडा को ही काश्मीरशैव दर्शन में 'आणव' मल का कारण बनाया गया है [2]।

एकमात्र परमेश्वर जो चिद्रूप होते हुए प्रकाश स्वरूप हैं, (सूर्यादि प्रकाशान्तर की भाँति जड़ नहीं) अतएव स्वतन्त्र भी हैं, वही अपने स्वातन्त्र्य-स्वभाव से जगत् के लय एवं उदयात्मक-क्रीडाकारी देव अपने परिपूर्ण ज्ञानक्रिया स्वभाववाले स्वरूप का गोपन करके संकुचितज्ञान क्रिया स्वभाववाले अनेक (अनन्त) कृत्रिम अणुरूपों में स्वयं को अवभासित कर लेते हैं, जिससे इस महान् विचित्र विश्व का समुल्लास हुआ है।

इस प्रकार पूर्णचिद्रूप परमेश्वर की स्वरूप-गोपनेच्छा ही आणव मल का कारण बनती है, अतः स्वरूपाख्याति (अज्ञान) ही आणव मल है। आणव मल के साथ ही कर्म भी रहता ही है। क्योंकि पूर्ण स्वरूप में कर्म का संबन्ध संभव ही नहीं। इस प्रकार कर्म और अणु (जीव) दोनों अनादि सिद्ध होते हैं, किन्तु कर्म भी बिना लोलिका (अभिलाष)

१—"अज्ञानं किलबन्धहेतुरुदितः शास्त्रेमलं तत्स्मृतम्।"

तन्त्रसार पृष्ठ ५

२—"देवः स्वतन्त्रश्चिद्रूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः।
रूप-प्रच्छादनक्रीडा-योगादणुरनेककः॥"

तन्त्रालोक, आ० १२, श्लोक १०३

"ईश्वरस्य च या स्वात्मतिरोधित्सा निमित्तताम्।
साभ्येति कर्म मलयोरतोऽनादि व्यवस्थितिः॥"

तन्त्रालोक, १३/११०-११

के नहीं होता, वह लोलिका भी पूर्ण स्वरूप में हो नहीं सकती, क्योंकि स्वभिन्न में ही अभिलाष होता है। इस प्रकार स्वरूपगोपनेच्छा जन्म स्वरूपाख्याति रूप अज्ञान ही आणव, कार्म, एवं मायीय मल का रूप ग्रहण करके स्वरूपविस्मृति की दशा में 'बन्ध' बना हुआ है। यद्यपि यह जगद्रूप बन्ध परमेश्वर की तिरोधानात्मक क्रीडा ही है सत्य नहीं तथापि गाढ़-तिरोधानाभिनयरस की तन्मयता में यह यथार्थवत् प्रतीत होकर संसरण का हेतु बनता है। स्वरूप-प्रत्यभिज्ञा के साथ ही इन तमाम अनर्थों की जड़ स्वरूपाख्याति की निवृति होने से स्वरूप-भूत पूर्ण शिवत्त्व की उपलब्धि (कण्ठस्थमणि की प्राप्ति की भांति प्राप्त की ही प्राप्ति) ही 'मोक्ष' है ※।

मुक्ति के प्रकार

परमेश्वर के क्रीडन-स्वरूप पञ्च कृत्यों के अन्तर्गत 'अनुग्रह' रूप भी एक कृत्य है, योग्य अणु (जीव) के प्रति जब ईश्वर की अनुग्रहणेच्छा होती है तब उसमें मुमुक्षा जागृत होती है और वह सद्गुरु एवं सच्छास्त्रों की ओर आकृष्ट होता है। यथा–

"ईश्वराऽनुग्रहादेव नीयते सद्गुरुं प्रति"

शास्त्राध्ययन, उपदेशश्रवण एवं आचार्य-स्वरूप परमेश्वर के अनुग्रह से कभी-कभी स्थूलशरीर रहते हुए ही देहादि-विषयक अहन्तारूप विकल्पज्ञान क्षीण होकर प्रमाता में अपने शिवस्वभाव का दृढ़विश्वास उदित होता है, और अपने परिपूर्ण स्वरूप के पुनः पुनः परिशीलन रूप-अभ्यास से प्रमाता का अपनी शिवता का वह अभ्यास इतना दृढ़ हो जाता है कि संसार का व्यवहार चलाते हुए भी उसे यही प्रतीत होता है कि "मैं शरीर, बुद्धि, प्राण और शून्य से उत्तीर्ण, पूर्ण, प्रकाशरूप शिव हूँ और ग्राह्य-ग्राहकरूप यह समस्त विश्वचिद्रूपता से मेरा ही अभिन्न शरीर है"। यह दृढ़ भावना उसकी सहज हो जाती है, अतः जगद्व्यवहार भी उसका

※ "संसारोऽस्ति न वस्तुतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का ?
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया।
मिथ्या-मोह-कृदेष रज्जु-भुजगच्छायापिशाचभ्रमो,
मा किञ्चित्त्यज, मागृहाण, विरम, स्वस्थो यथावस्थितः ॥"
(तन्त्रालोक टीका, आ० ९, श्लोक ३३१)

चिन्मय ही रहता है, और उसे स्वरूपानुसन्धान के अभ्यास एवं भावना की आवश्यकता नहीं रहती [1]।

इस प्रकार 'अहम्' रूप प्रमाता और 'इदम्' रूप प्रमेय में यह तात्त्विक अद्वयपरिज्ञान ही संकोच रूप बन्धन से मुक्ति है, इसका अनुभव प्रमाता को अपने सांसारिक जीवनकाल में ही होता है, अतः इसे जीवन्मुक्ति' की संज्ञा दी गई है।

अपने शुद्धस्वरूप के इस प्रत्यभिज्ञान से प्रमाता जन्ममरण के संकट से मुक्त हो जाता है और देहपात के अनन्तर तो वह साक्षात् शक्तिघनरूप शिव ही हो जाता है। यही परिपूर्ण अथवा सत्यमुक्ति नाम से व्यपदिष्ट है, जिसे 'विदेहमुक्ति' कहा गया है। यह सत्यमुक्ति परिपूर्ण शुद्ध अहन्ता का विमर्श है, जिसमें विश्वोत्तीर्ण आत्मविमर्श और विश्वमय आत्म-विमर्श युगपत् अविनाभाव संबन्ध से नित्योदित रहते हैं, वही 'अभय' पद है। यथा—

"विश्वात्म विश्वोत्तीर्णं च स्वतन्त्रं दिव्यमक्षरम्।
अहमित्युत्तमं तत्त्वं समाविश्य बिभेति कः॥"

शिवता और शक्तिघनता (विश्वोत्तीर्णता और विश्वमयता) का यह विमर्श जिसे निबिडसामरस्य की स्थिति कहा गया है, पूर्णसंविद्-रूपता की मुक्ति है, जो विकल्पमुक्त-स्वानुभवैकगम्या है। इस प्रकार अपने चिदात्मक-स्वरूप की पूर्ण अनुभूति ही 'मुक्ति' है [2]।

चिदात्म-स्वरूप की यह यथार्थ प्रतीति उपासना आदि किसी भी उपाय से संभव नहीं है, क्योंकि ध्यान, धारणा, जप, तप, पूजा आदि जितने आन्तर और बाह्यउपाय हैं, वे सब माया के अन्तर्गत व्यवहार के लिए परमेश्वर द्वारा आभासित होते हैं, अतः ये सब मायीय उपाय हैं

१—"एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः।
ज्ञाते शिवत्त्वे सर्वरूपे प्रतिपत्या दृढात्मना।
करणेन नास्ति कृत्यं व्यापि-भावनयापिवा॥
शिवदृष्टि आह्निक ७, श्लोक ५, ६

२—"अन्तः स्वानुभवानन्दा-विकल्पोन्मुक्तगोचरा:"
वि० भै० श्लोक १५

और शिव मायोत्तीर्ण शुद्ध प्रकाशरूप है, अतः इन मायीय उपायों से अमायीय शुद्ध स्वातंत्र्य-स्वभाव-स्वरूपभूत परमशिव का प्रकाशित होना कैसे संभव है ? घट को प्रकाशित करने वाला सूर्य क्या घट के द्वारा प्रकाशित किया जा सकता है ? कदापि नहीं। इस प्रकार किसी भी उपाय द्वारा जीव की शिवता का प्रकाशन संभव नहीं है। क्योंकि उसी स्वयंप्रकाश से ही तो सब मायीय व्यवहार प्रकाशित होते हैं, फिर वे उसे कैसे प्रकाशित कर सकते हैं[1]।

ऐसी स्थिति में आवरणस्वरूप मलों के अपनयन के उपाय ही व्यवहार में मुक्ति के उपाय माने जाते हैं। प्रमाता के स्वभाव-प्रकाश (शिवत्त्व) के अनुभव में बाधक बने हुए अपूर्णमान्यता रूप जो मल हैं, उन्हें हटा देना ही उपायों का कार्य है, और मलों के हट जाने पर उपासक का स्वाभाविक शिवभाव मेघावरण के हट जाने पर सूर्य की भाँति स्वयमेव उसके परामर्श में चमकने लगता है। अतः उपासनाक्रम में मलापनयन के उपाय ही व्यवहार में मुक्ति के उपाय कहे जाते हैं। इन उपायों को शैवशास्त्र में तीन वर्गों में विभक्त किया गया है, जो वस्तुतः अपूर्णमान्य मुमुक्षु जीव के पूर्णस्वरूप पररूपता में समावेश की ज्ञानदशा के ही तीन सोपान हैं। इनमें निम्नभूमि से ऊपर की भूमि में पहुंचने के लिये प्रथम सोपानस्थानीय आणवोपाय है, जिसे भेदोपाय कहते हैं। द्वितीय भेदाभेदोपाय शाक्तोपाय है, और तृतीय सोपान शाम्भवोपाय है, जिसे अभेदोपाय कहा गया है। शाम्भवोपाय ही अव्यवहित परज्ञान की प्राप्ति में निमित्त है, यही पराकाष्ठा को प्राप्त होकर 'अनुपाय' की स्थिति प्राप्त कर लेता है[2]।

अतः शाम्भवोपाय की ज्ञानदशा परिपक्व होकर अनुपायदशा में प्रवेश करा देती है, जो ज्ञान की पूर्णता है, निजानुभूतिमात्र है, अतएव

१—"उपायै र्न शिवो भाति भान्ति तेतत्प्रसादतः।"
तन्त्रालोक टीका आ० २, श्लोक २

२—"साक्षादुपायेन इति शाम्भवेन। तदेव हि अव्यवहितं पर ज्ञानावाप्तौ निमित्तम्, सएव परांकाष्ठां प्राप्तश्चानुपाय इत्युच्यते।"
आचार्य जयरथ तन्त्रालोक १/१४२ की टीका

वह 'उपेय' है उपाय नहीं। परन्तु शास्त्रों में 'अनुपाय' का भी निरूपण उपायों के अन्तर्गत ही किया गया है, वहाँ 'अनुपाय' शब्द का 'अनुदरा' कन्या की भांति 'अल्पोपाय' भी अर्थ माना गया है। तात्पर्य यह है कि कुछ ऐसे भी सिद्ध महात्मा लोकानुग्रहार्थ अवतीर्ण होते हैं; जिन्हें पूर्ण-स्वरूपज्ञान की स्थिति प्राप्त करने के लिये उपायावलम्बन की आवश्यकता नहीं होती, परमेश्वर के तीव्रतमशक्तिपात से अनुगृहीत ऐसे महात्मा मात्र एक ही बार शास्त्र का वाक्य पढ़ लेने से अथवा एक ही बार गुरूपदेश से, एवं सिद्धों, योगिनियों के दर्शनमात्र से पूर्ण प्रबुद्ध स्थिति में पहुंच जाते हैं, उन्हें बार-बार अन्य उपायों का परिशीलन नहीं करना पड़ता। वे किसी उपाय से नियन्त्रित नहीं होते। उन्हें क्षणमात्र में चमत्कार-पूर्ण स्वसंविद्रूपता का भान होकर ऐसा अनुभव होता है कि "यह समग्रभाव-मण्डल मुझ से ही उदित होकर मेरे में ही प्रतिबिम्बित है और मुझसे अभिन्न है"। वे कृतकृत्य एवं विधिनिषेधात्मक यन्त्रणा से परे होते हैं, उनके जीवन का एक मात्र लोकानुग्रह ही प्रयोजन होता है। ऐसे ही सिद्ध महात्माओं के लक्ष्य से 'अनुपाय' को उपाय कोटि में निर्दिष्ट किया गया है। ※

※ अनुपाये हि यद्रूपं कोऽर्थोदेशनयात्रवै।
सकृत्स्माद्देशता पश्चादनुपायत्त्वमुच्यते॥ तं० २/२

इसकी टीका में लिखा है—देशना इत्युपलक्षणम्—तेन सिद्धदर्शनाद्यपि-ग्राह्यम्, यदुक्तम्—

"सिद्धानां योगिनीनांच दर्शनंचरुभोजनम्।
कथनं संक्रमः शास्त्रे साधनं गुरुसेवनम्॥
इत्याद्यो निरुपायस्य संक्षेपोऽयंवरानने।"

आणवादौ असकृद्भाव्यमानो हि देशनादिउपेय प्राप्ति विर्दधातिइति तत्रतथात्वमुक्तम्, इहतु न तथा इत्यनुपायत्वम्, पर्युदासत्य 'अनुदराकन्या' इति वदल्पार्थत्वेऽपि भावात् अल्पोपायत्व मित्यर्थः प्राप्तये हि प्राप्ते किंनाम निरर्थकै रायासकारिभिर्भावनादिमिरितिभावः, यदुक्तम्—

"उपायौ र्न शिवोभाति भान्ति ते तत्प्रसादतः।
स एवाहं स्वप्रकाशो भासेविश्वस्वरूपकः॥
इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं सकृत्केचन निश्चिताः।
बिना भूयोऽनुसंधानं भान्ति संविन्मयाः स्थिताः॥"

सकृत् उपदेशादि मात्र से परिशीलन के बिना ही पूर्णतः स्वरूप प्रत्यभिज्ञा यहां हो जाती है, अतः सर्वोत्कृष्ट अधिकारी सिद्धप्राय महात्माओं के लिये परिशीलन सापेक्ष आणवादि उपायत्रय से विलक्षण इस 'अनुपाय' नामक उपाय का निर्देश यहाँ किया गया है, जिसका अर्थ 'अल्पोपाय' है, कारण यह कि 'अनुपाय' तो वह तत्त्व ही है जो 'उपेय' है उसकी प्राप्ति के लिये कोई उपाय तो अवश्य ही होना चाहिये, अन्यथा वह 'उपेय' ही कैसे माना जायगा ? जिन महात्माओं को बिना उपदेश के ही स्वरूपप्रथा हो जाती है, उनके लिये शास्त्र का प्रयोजन ही क्या है ? वे तो स्वयं सिद्ध हैं [1]।

इस कोटि के महात्माओं का जीवन मात्रलोकानुग्रहार्थ ही होता है [2]।

पूर्वक्त साधनाभ्यास से तीव्राततीव्र शक्तिपातयुक्त निर्मल अन्तःकरण वाले जो भाग्यवान् उनका दर्शनमात्र करलेते हैं दीप से प्रवर्तित दीप की भांति, उनमें उनके पूर्णज्ञान का संक्रमण हो जाता है, अतः वे भी तद्रूप हो जाते हैं, यही उनकी अनुग्रहात्मता है [3]।

❈ उपायत्रय ❈

मुक्ति की ओर आरुरूक्षु साधक की उपासना में इन उपायों का क्रम 'आभास-प्रक्रिया' से विपरीत होता है, जैसे आणवोपाय, शाक्तोपाय और शाम्भवोपाय। इनमें उपेयोपायभाव, एवं द्वारि-द्वारभाव संबन्ध है, अर्थात् आणवोपाय शाक्तोपाय में प्रवेश का उपाय अथवा द्वार है, और शाम्भवोपाय से अनुपायतत्त्व में समावेश होता है जो अन्तिम लक्ष्य एवं प्रत्यभिज्ञेय है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सभी मुमुक्षु उपासकों को गुरुद्वारा प्रथम आणवोपाय का ही उपदेश किया जाय, प्राग्भव साधनाभ्यास के संस्कारानुसार शक्तिपात के तारतम्य से तीव्रतम शक्तिपात

१—अनुपायमिदंतत्त्वमित्युपायं बिना कुतः ?
स्वयं तु तेषांतत्तादृक् किंत्र मः किल तान्प्रति ॥ तं० २/३

२—"तेषामिदं समाभाति सर्वतो भावमण्डलम् ।
पुरःस्थमेव संवित्ति-भैरवाग्निविलापि तम् ॥ तं० २/३५
समस्तयन्त्रणातन्त्रत्रोटनाटंकधर्मिणः ।
नानुग्रहात्परं किञ्चिच्छेषवृत्तौ प्रयोजनम् ॥ तं० २/३८

३—"तं ये पश्यन्ति ताद्रूप्यक्रमेणामलसंविदः ।
तेऽपितद्रूपिण स्तावत्येवास्यानुग्रहात्मता ॥ तं० २/४०

वाले उच्चतम अधिकारी के लिये शाम्भवोपाय, तीव्रशक्तिपातवाले उच्च अधिकारी के लिये शाक्तोपाय, और मन्दशक्तिपात वालेनिम्नस्तर के अधिकारी के लिये आणवोपाय का ही उपदेश आरम्भ में गुरुद्वारा किया जाना स्वाभाविक है। अतः निम्नस्तर के सामान्य अधिकारी के लिये हो आणवोपाय आदि क्रम समझना चाहिये अतएव तन्त्रालोकादि में अनुपाय, शाम्भव, शाक्त, और आणव इस प्रकार ऊर्ध्वक्रम से ही उपायों का निरूपण किया गया है।

आणवोपाय

आणवोपाय में साधक प्राणव्यापार-रूप उच्चार आदि बाह्य (अवच्छिन्न) वस्तु को आलम्बन मानकर विकल्पबुद्धि द्वारा उसपर अपने आपकी भावना करता है[1]।

इस भावना के विकास से उसे यह प्रतीत होने लगता है कि "शिव की शक्ति ही सर्वत्र परिव्याप्त है और जड़ चेतन सभी उसी का विस्फार है।" इस प्रकार प्राणादि का जड़भाग तिरोहित होकर सर्वत्र अकृत्रिम-पराहन्ता की अनुभूति से साधक संविन्मय हो जाता है[2]।

ये उच्चार आदि उपायबुद्धि की कल्पनारूपक्रिया से तथा ध्यानादि मानसक्रिया से साध्य हैं अतः आणवोपाय को क्रियोपाय भी कहा गया है, द्वार-द्वारिभाव से इस उपाय का भी फल 'स्वरूप प्रथन' रूप अपवर्ग ही है अतः फलभेद नहीं मानना चाहिए[3]।

क्रियोपाय से ऊँचा ज्ञानोपाय अर्थात् शाक्तोपाय माना गया है, क्योंकि यहाँ विकल्प होते हुए भी आणवोपाय की भांति बाह्य उच्चार करण आदि (जो भेदैकनिष्ठ हैं) नहीं होते, अतः साधक देह आदि

१–"वर्णविशेषावमर्शप्रधान आणवः ।" विज्ञान भैरवविवृति पृ० १९

"उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ।" मालिनी विजयोत्तर २/२१

२–"बुद्धौ प्राणे तथा देहे देशे या जड़ता स्थिता ।
तां तिरोधाय मेधावी संविद्रश्मिमयो भवेत् ॥" तन्त्रालोक टीका ५/११

३–"यत्तु तत्कल्पना क्लृप्त वहिर्भूतार्थसाधनम् ।
क्रियोपायं तदाम्नातं भेदोनात्रापवर्गगः ॥" तन्त्रालोक १/१४९

से उतीर्ण अपने आप में ही शुद्धविकल्प द्वारा "सब कुछ मैं हूँ" ऐसे परिपूर्ण शिवभाव की भावना करता है[1]।

'भावना' ही विकल्प-ज्ञान है। साधक जब ध्यान, पूजा, अर्चनारूप विकल्प-ज्ञान के दर्पण में अपने विकल्पयिता रूप को पुनः पुनः भैरवभाव से देखते हुए शिवरूपता से उसकी अभेदप्रतीति में दृढ़ हो जाता है, तो उसका वह तदैकात्म्य-भाव ही शाक्त समावेशरूपा मुक्ति कहलाती है[2]।

शाम्भवोपाय–इच्छोपाय

ज्ञानोपाय से ऊर्ध्ववर्ती इच्छोपाय अर्थात् शाम्भवोपाय है। इसमें विकल्प की अनुपयोगिता कही गई है[3]।

अनुपाय

निर्विकल्पक साधक की तीव्र इच्छामात्र से ही उसकी स्पन्दरूपा इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति हो जाती है और इस समावेश में अनेकशः अभ्यास से शिवभाव का संस्कार दृढ़ हो जाने पर निर्मलसंवित् अतएव क्षीणसंकोच साधक अनुपायभूमि के द्वार पर पहुंच कर किसी सिद्ध-योगी के दर्शन अथवा कथनमात्र के अनुग्रह से ही बिना किसी साधना (परिशीलन) के स्वयमेव परिपूर्ण शिवभाव का साक्षात्कार कर लेता है, जैसे एक दीपक की ज्योति स्पर्शमात्र से ही दूसरे दीपक में संक्रान्त हो जाती है। ऐसा हो जाने पर वह साधक सिद्ध हो जाता है और उसमें यह विमर्श दृढ़-मूल हो जाता है कि यह समस्तभासमान विश्व मुझ से ही उदित हुआ है, मुझ में ही दर्पण-नगरन्याय से प्रतिबिम्बित है, और

१–"सर्वाहंभाव-भावनात्मकशुद्धविकल्पनावमर्शरूपः शाक्तः।"
वि० भै० विवृति, पृ० १९

२–"तथा विकल्पमुकुरे ध्यानपूजार्चनात्मनि।
आत्मानं भैरवं पश्यन् न चिरात्तन्मयी भवेत्॥"
"तन्मयीभवनं नाम प्राप्तिः सानुत्तरात्मनि।" तन्त्रालोक ४/२०-२०९
विकल्परूप-ज्ञान प्राधान्य के कारण इसे ज्ञानोपाय कहा गया है। यथा
"भूयोभूयो विकल्पांशनिश्चयक्रमचर्चनात्।
यत्परामर्शमभ्येति ज्ञानोपायं तु तद्विदुः॥" तं० १/१४८

३–"तेनाविकल्पा संवित्तिर्भावनाद्यनपेक्षिणी।
शिवतादात्म्यमापन्ना समावेशोऽत्रशाम्भवः॥"

मुझ से सर्वथा अभिन्न है। ऐसे सिद्ध महायोगी का जीवनमात्र लोकानुग्रह के लिये ही होता है। यह हम पहले कह आये हैं। उपर्युक्त मोक्षोपायों में रुचि एवं प्रवृत्ति शक्तिपात (ईश्वरानुग्रह) के बिना नहीं, होता। 'शक्तिपात' का मूल कारणभक्ति है, अथवा 'भक्ति' ही 'शक्तिपात' है। अतः भक्ति ही पराकाष्ठा को प्राप्त होकर 'मुक्ति' का रूपग्रहण कर लेती है, और वही "स्वरूप प्रत्यभिज्ञा" है। ※

इतिहास

वेदों के समान शैवागमों का उद्भव भी अनादिकाल से ही माना जाता है। कालक्रम से उनके लोक-प्रकाशन का आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। इस युग (कलि) में शैवागम के उपदेश की परम्परा पहले प्रायः मौखिक और पश्चात् लिखित (ग्रन्थादि) किन किन दिव्य एवं सिद्ध महात्माओं द्वारा प्रवृत्त हुई, इस विषय में आचार्य सोमानन्द ने अपने 'शिवदृष्टि' नामक ग्रन्थ के अन्त में इस प्रकार लिखा है—

पहले कलि के* आरम्भकाल तक महात्माऋषियों के मुख में ही

※ "भक्तिरेवपरांकाष्ठां प्राप्तामोक्षोऽभिधीपते।"

तन्त्रालोक टीका, आ० १३ पृ० १३७

* "शैवादीनि रहस्यानि पूर्वमासन् महात्मनाम्।
ऋषीणां वक्त्रकुहरे तेष्वेवानुग्रहक्रिया॥
कलौ प्रवृत्ते यातेषु तेषु दुर्गमगोचरे।
कलापि ग्राम-प्रमुखे समुच्छिन्ने च शासने॥
कैलासाद्रौ भ्रमन् देवो मूर्त्या श्रीकण्ठरूपया।
अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास-भूतले॥
मुनिदुर्वाससं नाम भगवानूर्ध्वरेतसम्।
नोच्छिद्येत तथा शास्त्रं रहस्यं कुरु तादृशम्॥
ततः स भगवान् देवादादेशं प्राप्य यत्नवान्।
ससर्जमानसं पुत्रं त्र्यम्बकादित्य नामकम्॥
तस्मिन् संक्रमयामास रहस्यानि समन्ततः।
सोऽपिगत्वा गुहां सम्यक् त्र्यम्बकाख्यां ततः परम्॥

शैवादिशास्त्रों के रहस्यपूर्ण सिद्धान्त छिपे रहे। उन्हीं के माध्यम से अधिकारी शिवभक्तों पर पूर्णताप्रत्यभिज्ञा हेतु परमेश्वर का अनुग्रह होता रहा। कलि के आ जाने पर वे ऋषिगण कलापि ग्रामादि दुर्गमस्थानों पर चलेगये। अतः शैवशास्त्र का प्रचार लुप्त होने लगा। इस शास्त्र के मूलगुरू भगवान्शङ्कर के हृदय में दयाभाव उमड़ आया। वे कैलासपर्वत पर श्रीकण्ठरूप में भ्रमण करते हुए नीचे उतर आये, और ऊर्ध्वरेता दुर्वासामुनि को शिवशास्त्रोपनिषद् ज्ञान की परम्परा को अविच्छिन रखने के लिये प्रेरित किया। महादेव की आज्ञा पाकर भगवान् दुर्वासा ने

तन्नाम्ना चिह्नितंतत्र ससर्जमनसा सुतम्।
खमुत्पपात ससिद्ध स्ततपुत्रोऽपितथातथा॥
सिद्धस्तद्वत्सुतोत्पत्या सिद्धा एवं चतुर्दश।
यावत्पञ्चदशः पुत्रः सर्वशास्त्र-विशारदः॥
स कदाचिल्लोकयात्रामासीनः प्रेक्षते ततः।
बहिर्मुखस्य तस्याथ ब्राह्मणी काचिदेव हि॥
रूप-यौवन-सौभाग्य-बन्धुरा सा गता दृशम्।
दृष्ट्वा तां लक्षणैर्युक्तां योग्यां कन्यामथात्मनः॥
स धर्मचारिणीं सम्यग् गत्वाततत्पितरं स्वयम्।
अर्थयित्वाब्राह्मणीं तामानयामासयत्नतः॥
ब्राह्मणेन विवाहेन ततोजातस्तथाविधः।
तेन यः स च कालेन कश्मीरेष्वागतोभ्रमन्॥
नाम्ना स संगमादित्यो वर्षादित्योऽपितत्सुतः।
तस्याप्यभूत् स भगवानरुणादित्यसंज्ञकः॥
आनन्दसंज्ञकस्तस्मादुद्बभूव तथाविधः।
तस्मादस्मि समुद्भूतः सोमानन्दाख्य ईदृशः॥
करोमिस्म प्रकरणं शिवदृष्ट्यभिधानकम्।
एवमेषां त्र्यम्बकाख्या तेरम्बा देशभाषया॥
स्थिता शिष्यप्रशिष्याद्यैर्विस्तीर्णा मठिकोदिता।

शिवदृष्टि, आ० ७, श्लोक १०७-१२२

योगबल से 'त्र्यम्बकादित्य' नामक मानसपुत्र की सृष्टि करके उसे शिवशास्त्रोपनिषद् का संपूर्णज्ञान प्रदान किया। त्र्यम्बकादित्य भी त्र्यम्बक नाम वाली गुफा में जाकर उस गुफा के नाम से ही 'त्र्यम्बक' नामक एक मानसिक पुत्र को उत्पन्न किया, और उसे शिवशास्त्र का उपदेश देने से कृतकार्य (संसिद्ध) होकर आकाश में अन्तर्हित हो गये। उसका पुत्र भी उसी प्रकार मानसिक पुत्र को जन्म देकर उसमें शैवशास्त्र का उपदेश द्वारा संक्रमण कराकर सिद्ध हो गया, इस प्रकार इस परम्परा में चौदह सिद्ध महात्मा हुए। पूर्ववत् उत्पादित पन्द्रहवाँ पुत्र संपूर्ण शैवागम का प्रकाण्ड पण्डित हुआ।

वह कभी लोकयात्रार्थ निकल कर किसी स्थान पर बैठा था, उसकी वृत्ति उस समय बहिर्मुख थी, संयोगवश एक रूप-यौवन-लावण्य-संपन्न ब्राह्मणकिशोरी उसके दृष्टिपथ में पड़ी। उस अनुपमसुन्दरी एवं सभी शुभ लक्षणों से युक्त कन्या को देख कर इस महात्मा की इच्छा उसे सहधर्मिणी बनाने की हो गई। वह स्वयं उस कन्या के पिता के पास गया और प्रार्थना करके उसकी कन्या के साथ ब्राह्मविधि से बिवाह किया। इस दम्पति से जो पुत्र हुआ उसका नाम 'संगमादित्य' रखा गया। वह भी अपने पिता के समान ही शैवशास्त्र का रहस्यज्ञविद्वान् हुआ। कुछ काल व्यतीत होने पर वह भ्रमण करते हुए कश्मीर पहुंच कर वहीं रह गया। उसका पुत्र वर्षादित्यः, वर्षादित्य का पुत्र 'अरुणादित्य' और अरुणादित्य का पुत्र 'आनन्द' हुआ। ये सभी पूर्वपुरुषों के समान ही शैवागम के निगूढ सिद्धान्तों के मर्मज्ञ सिद्ध महात्मा हुए। इसी आनन्द के पुत्र जिन्होंने 'शिवदृष्टि' संज्ञक प्रकरण की रचना की। ये सभी 'त्र्यम्बकादित्य के वंशज होने के कारण 'त्र्यम्बक' उपाधि से विख्यात हुए। देशभाषा में इनकी 'तेरम्बा' नाम से प्रसिद्धि है।

शिष्य-प्रशिष्यादि से विस्तार को प्राप्त होने पर यही आख्या इनकी 'मठिका' (साम्प्रदायिक गोत्र संज्ञा) भी बन गई।

आचार्य अभिनव गुप्त ने श्रीतन्त्रालोक के ३६ वें आह्निक में इस शास्त्र के आयातिक्रम के वर्णन के इस प्रसङ्ग में एक और विशेष बात का उल्लेख किया है, उसके अनुसार श्रीसिद्धातन्त्र-निर्दिष्ट भैरवोपज्ञ

आयातिक्रम श्रेष्ठ मनुष्य-योगियों तक पहुंच कर कालान्तर में जब टूट गया तब इस युग (कलि) के आरम्भ में भगवान् श्री कण्ठनाथ की आज्ञा से त्र्यम्बक आमर्दक और श्रीनाथ नाम से प्रसिद्ध तीन सिद्ध महात्मा अवतीर्ण हुए जो क्रमशः अद्वैत, द्वैत, और द्वैताद्वैत शैव-शास्त्र के प्रवर्तक आचार्य हुए। श्री त्र्यम्बकनाथ ने एक मानसिक पुत्री को उत्पन्न किया। जो अर्ध-त्र्यम्बक-शाखा की प्रवर्त्तिका मानी जाती है। इस प्रकार संकलन रूप में शैव दर्शन साढ़े तीन शाखाओं में विभक्त हुआ। ※

दोनों उद्धरणों को समन्वय दृष्टि से देखने से यही निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् श्रीकण्ठ की उत्त्य आज्ञा से महर्षि दुर्वासा ने प्रथमतः उपर्युक्त तीन मानस पुत्रों को जन्म दिया, और उन्हें क्रमशः

※ "तेषां क्रमेण तन्मध्ये भ्रष्टं कालक्रमाद् यदा।
तदा श्रीकण्ठनाथाज्ञावशात् सिद्धा अवातरन्॥
त्र्यम्बकामर्दकाभिख्य श्रीनाथा अद्वये, द्वये।
द्वयाद्वये च निपुणाः क्रमेण शिव-शासने॥
आद्यस्य चान्वयो जज्ञे द्वितीयो दुहितृ क्रमात्।
सचार्ध त्र्यम्बकाभिख्यः सन्तानः सुप्रतिष्ठितः॥
अतश्चार्ध चतिस्रोऽत्र मठिकाः सन्ततिक्रमात्।
शिष्य-प्रशिष्यै विस्तीर्णाः शत शाखंव्यवस्थितैः॥"

तन्त्रालोक, आ० ३६, श्लोक ११–१४

अर्धचतिस्रोऽत्र मठिकाः। गुरुक्रम के आधार पर जो 'गोत्र' होता है उसी को 'मठिका' अथवा 'कुल' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। जैसा कि इसी ग्रन्थ में अन्यत्र कहा गया है।

"गोत्रं च .गुरुसंतानो मठिका-कुल-शब्दितः"। तं० ४।२६५

साढ़े तीन मठिकायें (कुल) इस प्रकार हैं।

एक श्रीकण्ठ, एक त्र्यम्बक, आधी त्र्यम्बकार्ध और एक आमर्द। यथा–

"श्री सन्तति, स्त्र्यम्बकाख्या, तदर्धा मर्द संज्ञिता।
इत्थमर्ध चतिस्रोऽत्र मठिकाः शाङ्करक्रमे॥"

तं० आलोक, आ० ४, श्लो. २६६

अभेद-भेद-और भेदाभेद इन शैव सिद्धान्तों का उपदेश करके एक एक शाखा में निपुण करके उसके प्रवर्तन का आदेश दिया। उनमें अभेद (अद्वैत) नामक मुख्य शाखा के प्रवर्तक श्री त्र्यम्बकादित्य की (विद्या और जन्म उभयात्मक) वंश परम्परा में श्री सोमानन्द उत्पन्न हुए। अतः श्री सोमानन्द ने मात्र अपनी ही शाखा (अद्वैत) की परम्परा का शिव दृष्टि में उल्लेख किया। तन्त्रालोक एक विशाल ग्रन्थ है, अतः उसमें सभी शाखाओं का सार-भूत रस लेकर अपने (शिवाद्वैत) सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, अतः उसमें द्वैत-एवं द्वैताद्वैत शाखाओं के भी गुरुओं का नाम्ना निर्देश किया गया है, इस अभिप्राय को ग्रन्थकार ने स्वयं व्यक्त किया है। यथा –

"अध्युष्ट सन्ततिस्रोतः सारभूतरसाहृतिम्।
विधाय तन्त्रालोकोयं स्यन्दते सकलान् रसान्॥

इसी शिवाद्वैत शाखाप्रवर्तक त्र्यम्बक परम्परा के किसी सिद्ध महात्मा के उपदेश से आचार्य वसुगुप्त को महादेवगिरि पर किसी शिला खण्ड पर उट्टङ्कित शिवसूत्रों की उपलब्धि हुई, जिन सूत्रों के संपूर्ण रहस्यों का उपदेश उन्हें स्वप्न में साक्षात् शङ्कर भगवान् से ही प्राप्त हुआ। उसी उपदेश के सारभूत (जिन्हें स्पन्दामृत कहा गया है) सिद्धान्तों को उन्होंने ५२ (अथवा ५१.) संख्याक स्पन्दकारिकाओं में निबद्ध किया है। इन स्पन्दकारिकाओं की संप्रति उपलभ्यमान व्याख्याओं में सर्वप्राचीन व्याख्या आचार्य वसुगुप्तपाद के शिष्य भट्ट-कल्लट-प्रणीत 'स्पन्दसर्वस्व' नामक 'वृत्ति' है : जैसा कि भट्टकल्लट ने स्वयं अपनी वृत्ति के अन्त में लिखा है—

"समाप्तं 'स्पन्दसर्वस्वं' प्रवृत्तं भट्टकल्लटात्।
स्वप्रकाशैकचित्तत्वपरिरम्भरसोत्सुकात् ॥"

वृत्ति की पुष्पिका इस प्रकार है, यथा—

"परिपूर्णेयं स्पन्दवृत्तिः, कृतिस्तत्रभवन्महामाहेश्वराचार्यवर्य-भट्ट श्रीकल्लटपादानाम्"[1]।

१–स्पन्दकारिक रिसर्चविभाग काश्मीरसीरीज़ से प्रकाशित संवत् १९७०

उपर्युक्त विवरणों के आधार पर यह मान्यता निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि अद्वैतशैव सिद्धान्तप्रतिपादक संप्रति उपलभ्यमान मानव-प्रणीतग्रन्थों में सर्वप्राचीन ग्रन्थ आचार्य वसुगुप्त की 'स्पन्दकारिका और उसकी कल्लटवृत्ति ही है, एवं जिनके ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें सर्वप्राचीन आचार्य का स्थान भी आचार्य वसुगुप्त को ही प्राप्त है। संप्रदाय प्राप्त-जनश्रुति के आधार पर कहा जाता है कि 'शिवदृष्टि' के प्रणेता आचार्य सोमानन्द आचार्य वसुगुप्तपाद के ही शिष्य थे। शिवप्रोक्त आगमों के अतिरिक्त शिवदृष्टि का आधार 'स्पन्दकारिका' और आचार्य सोमानन्द के समय में उपलब्ध खेटपालादि आचार्यों के ग्रन्थ हैं, जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। 'शिवदृष्टि' के मूल के समर्थन में आचार्य उत्पलदेव ने अपनी वृत्ति में अनेकशः स्पन्द-कारिकाओं एवं शिवसूत्रों का उद्धरण दिया है। विस्तार-भय से हम उसका विवरण यहाँ नहीं दे रहे हैं। शिवदृष्टि पर हम संक्षेप में आगे विचार करेंगे। सम्प्रति क्रमप्राप्त प्रस्तुत शिवसूत्र के सन्दर्भ में ही संक्षेपतः ऐतिहासिक और वैषयिक दृष्टि से विचार करना प्रासङ्गिक प्रतीत हो रहा है। अतः इसी संबन्ध में यत्किंचित् विचार किया जा रहा है।

शिवसूत्र

शिवसूत्र के स्रष्टा स्वयं भगवान् शिव ही हैं, जैसाकि शिवसूत्रवार्तिक में भास्कराचार्य ने कहा है[1]।

वसुगुप्त द्वारा इन सूत्रों की प्राप्ति के बारे में कश्मीर के शैवाचार्यों में तीन विचार-परम्परा हैं, जिनका हम समन्वय-दृष्टि से ऊपर निर्देश कर आए हैं।

आचार्य वसुगुप्त के शिष्य भट्टकल्लट ने अपने स्पन्दसर्वस्व में इस बात का उल्लेख किया है कि भगवान् शिव से स्वप्न में आचार्य वसुगुप्त को शिवसूत्रों का ज्ञान प्राप्त हुआ था[2]।"

१—"सूत्र माहमहेश्वरः" (का० १/३०) "भगवान् सूत्र मभ्यभाषत-शंकरः" (का० १/५७) "शिवःसूत्रमरीरचत्" का० १/१४

२—"दृब्धं महादेवगिरौ महेशस्वप्नोपदिष्टाच्छिवसूत्रसिन्धोः।
स्पन्दामृतं यद्वसुगुप्तपादैः श्रीकल्लटस्तत् प्रकटीचकार॥"

दूसरी परम्परा यह है कि 'आचार्य वसुगुप्त को शिवसूत्र महादेव-गिरि के शिलाखण्ड पर उट्टङ्कित मिले थे' इस बात को आचर्य क्षेमराज ने अपनी 'शिवसूत्र विमर्शिनी' (पृष्ठ २-३) तथा 'स्पन्दनिर्णय (पृष्ठ २) में उल्लिखित किया है [1] ※

राजानक रामकण्ठ (स्पन्द-विवृतिकार) उत्पलवैष्णव (स्पन्दप्रदीपिकाकार) और भास्कराचार्य (शिवसूत्र-वार्तिककार) के अनुसार 'शिवसूत्र' भगवान् शिवकृत अवश्य हैं, किन्तु आचार्य वसुगुप्त को शिव सूत्रों का ज्ञान किसी सिद्ध महात्मा के आदेश (उपदेश) से प्राप्त हुआ था। [2]

इस प्रकार आचार्य वसुगुप्त को शिवसूत्रों की प्राप्ति के विषय में तीन प्रकार के उल्लेख मिलते हैं (१) शिवकृत स्वप्नोपदेश (२) सिद्धादेश, और (३) शिलातलोट्टङ्कित रूप में। 'महादेव गिरि' की चर्चा

※ १–आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'भारतीयदर्शन' पृष्ठ ४७२ में लिखा है कि "यों सम्प्रदायानुसार (शिवसूत्र विमर्शिनी के आरम्भ में) क्षेमराज का कथन है कि शिवसूत्र के लिये भगवान् श्रीकण्ठ ने स्वप्न में वसुगुप्त को आदेश दिया था कि महादेवगिरि के एक विशाल शिलाखण्ड पर उट्टङ्कित शिवसूत्रों का उद्धार कर प्रचार करो। जिस चट्टान पर ये सूत्र उट्टङ्कित मिलेथे, उसे आज भी 'शिवपल्' (= शिवोपल, शिवशिला) के नाम से पुकारते हैं।" भारयीय दर्शन, पृष्ठ ४७२

२–द्रष्टव्य–(१) स्पन्दविवृति पृष्ठ १६५ "गुरोः वसुगुप्ताभिधानस्य साक्षात्सिद्धमुख-संक्रान्तसमस्तरहस्योपनिषद्भूतस्पन्दतत्वामृतनिष्यन्दस्य'।

(२) स्पन्दप्रदीपिका प्रारम्भ, (३) शिवसूत्र वार्तिक पृष्ठ २-३ यथा–

"श्रीमन्महादेवगिरौ वसुगुप्तगुरोः पुरा।
सिद्धादेशात्प्रादुरासन् शिवसूत्राणि तस्य हि ॥
सरहस्यान्यतः सोऽपि प्रादाद्भट्टाय सूरये।
श्रीकल्लटाय, सोऽप्येवं चतुः खण्डानितान्यथ ॥
व्याकरोत् त्रिकमेतेभ्यः स्पन्दसूत्रैः स्वकैस्ततः।
तत्वार्थचिन्तामण्याख्यटीकया खण्डमन्तिमम् ॥" श्लोक ३-५

तीनों उल्लेखों में की गई है। समन्वय की दृष्टि से विचार करने पर इन उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य वसुगुप्त (जो स्वयं अद्वैत-शैव शाखा के एक सिद्ध महात्मा थे) को महादेव गिरिपर शिलातलोट्टङ्कित शिवसूत्रों को प्राप्त करके योग्य अधिकारी शिष्य के माध्यम से उसके रहस्यों का पारम्परिक प्रचार करने का संकेत स्वप्न में साक्षात् भगवान् शिव से मिला और किसी सिद्ध महात्मा के परामर्श से उन्होंने महादेव गिरिपर शिलातलोट्टङ्कित शिवसूत्रों को प्राप्त किया। 'स्वप्नोपदेशात्' 'सिद्धादेशात्' और शिलातलोट्टङ्कित प्राप्ति की परम्परा प्राप्त साम्प्रदायिक जनश्रुति का समवेत रुप में यही तात्पर्य समझना उचित होगा। 'कल्लट का कथन सत्य है; क्षेमेन्द्र का नहीं' इस प्रकार के व्यर्थ विवाद के पक्ष विपक्ष में युक्तिप्रदर्शन की आवश्यकता नहीं।

शिवसूत्र सूत्र रूप में यद्यपि अद्वैत शैवदर्शन का एक मूलग्रन्थ है और दार्शनिक ग्रन्थों में प्रमाणस्वरूप इनका अनेकशः उल्लेख भी किया गया है तथापि सन्दर्भानुसार मुख्यतया यह साधनपरक है। इसमें मुक्ति के तीन उपाय ऊर्ध्वस्तर-क्रम से निर्दिष्ट किये गए हैं। शाम्भवउपाय, शाक्तउपाय और आणव उपाय। मोक्ष के इन तीन उपायों के अनुसार शिव सूत्र तीन प्रकाशों (अध्यायों) में विभक्त किया गया है। इन उपायों का संक्षेपतः निरूपण हम पहले सिद्धान्तनिरूपण प्रकरण में कर आए हैं, अतः यहाँ नाममात्र निर्दिष्ट किये गये हैं। भूमिका के अन्त में प्रत्येक सूत्रों की क्रमानुसार विषय सूची भी दी जा रही है, उससे भी इन उपायों पर किञ्चित् सांकेतिक प्रकाश पड़ सकता है।

सूत्रों की संख्या

क्षेमराज ने 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में ७७ सूत्रों पर वृत्ति लिखी है और भास्कराचार्य ने अपने 'शिवसूत्रवार्तिक' में ७९ सूत्रों का उल्लेख किया है। शिवसूत्रवार्तिक में व्याख्यात प्रथम प्रकाश का १७ वाँ सूत्र "स्वपदशक्तिः" और तृतीय प्रकाश का १५ वाँ सूत्र "विसर्गस्वाभाव्याद्बहिः स्थितेस्तत्स्थितिः" अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलते। इससे पाठभेद प्रतीत होता है।

शिव सूत्र की व्याख्यायें

शिव सूत्रों की व्याख्या करने वाले प्राचीन आचार्यों में भास्कराचार्य, क्षेमराज और वरदराज के नाम उल्लेखनीय हैं। शिवसूत्रों का रहस्य समझाने के लिए भास्कराचार्य ने ३१० श्लोकों में वार्तिक की रचना की थी। जैसा कि उन्होंने व्याख्या के अन्त में स्वयं लिखा है और उसके अनुसार उनकी व्याख्या उपलब्ध भी है। श्री भास्कराचार्य ने 'जिस सर-हस्य शिवसूत्रव्याख्या के आधार पर शिवसूत्रवार्तिक की रचना की है, उसकी प्राप्ति की परम्परा का वर्णन उन्होंने आरम्भ में किया है।

जिससे स्पष्टतया यही प्रतीत होता है कि आचार्य वसुगुप्तपाद ने रहस्यात्मक व्याख्या सहित शिवसूत्रों का उपदेश अपने शिष्य भट्टकल्लट को दिया। विद्वान् कल्लट ने उनको चार खण्डों में विभक्त करके तीन खण्डों की व्याख्या स्वरचित स्पन्दसूत्रों से और अन्तिम खण्ड की व्याख्या तत्त्वार्थ-चिन्तामणिनामक टीका लिख कर की। इस गोपनीय विद्या का उपदेश उन्होंने अपने मातुलपुत्र प्रद्युम्नभट्ट को प्रद्युम्न भट्ट ने अपने पुत्र 'प्रज्ञार्जुन' को दिया। प्रज्ञार्जुन ने अपने शिष्य महादेवभट्ट को दिया और महादेवभट्ट ने सरहस्य शिवसूत्र का उपदेश अपने पुत्र श्रीकण्ठभट्ट को दिया, जिनसे इसका ज्ञान दिवाकर-पुत्र श्री भास्कराचार्य को प्राप्त हुआ ※।

※ "श्री मन्महादेव गिरौ वसुगुप्तगुरोः पुरा।
सिद्धादेशात्प्रादुरासन् शिवसूत्राणि तस्यहि॥
सरहस्यान्यतः सोऽपि प्रादाद्भट्टाय सूरये।
श्री कल्लटाय सोऽप्येवं चतुः खण्डानि तान्यथ॥
व्याकरोत् त्रिकमेतेभ्यः स्पन्द-सूत्रैः स्वकैस्ततः।
तत्त्वार्थ चिन्तामण्याख्य टीकया खण्ड मन्तिमम्॥
एवं सरहस्य मप्येष मातुलेयाय चावदत्।
श्री मत्प्रद्युम्नभट्टाय सोऽपि स्वतनयाय च॥
श्री मत्प्रज्ञार्जुनाख्याय प्रादात्सोऽप्येवमावदत्।
श्रीमहादेवभट्टाय स्वशिष्यायाप्यसौ पुनः॥
श्री मच्छ्रीकण्ठ भट्टायप्रददौ स्वसुताय च।
तस्मात्प्राप्य करोम्येष सूत्रवार्तिक मादरात्॥
दैवाकरि र्भास्करोऽहमन्तेवासि गणेरितः।"

इस प्रकार 'भास्कराचार्य भट्टकल्लट की षष्ठपीढ़ी के शैवाचार्य थे' यह बात प्रमाणित होती है । भट्टकल्लट कश्मीरनरेश अवन्ति वर्मा (८५५-८८०) के समकालीन सिद्ध शैवाचार्य थे, जैसा कि राजतरङ्गिणी के निम्नोद्धृत श्लोक से ज्ञात होता है ।

अनुग्रहाय लोकानां भट्ट श्रीकल्लटादयः ।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन्[1] ॥

अतः परम्परागत रीति से भट्टकल्लट और भास्कराचार्य के मध्य की चार पीढ़ियों के लिये सौ वर्षों का काल मानने पर भास्कराचार्य का कार्यकाल ९५५-९८० सिद्ध होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ९७५-१००० ने अपनी ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में भास्कराचार्य का उल्लेख किया है[2] ।

इस से यह ज्ञात होता है कि वे अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती थे। क्षेमराज ने विमर्शिनीवृत्ति से शिवसूत्रों के अर्थ-विस्तार में महत्त्वपूर्णयोग दिया और वरदराज ने पद्यात्मक वार्तिक[3] लिखकर शिवसूत्रों की चार खण्डों में व्याख्या की थी, उनमें तीन खण्डों की व्याख्या स्पन्दसूत्रों के रूप में और अन्तिम खण्ड की 'तत्त्वार्थ-चिन्तामणि' नामक टीका लिख-कर की थी। शिवसूत्रों पर कल्लटकृत 'मधुवाहिनी' नामक एक अन्यवृत्ति का भी उल्लेख आचार्य अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में किया है। यथा—

"तदुक्तं शिवसूत्रवृत्योर्मधुवाहिनीतत्त्वार्थ चिन्तामण्योर्भट्ट श्रीकल्लट-पादैः" । भट्टकल्लट के स्पन्दसूत्र एवं शिवसूत्रों पर लिखी गई ये दोनों टीकायें सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। कुछ लोग उपलब्ध 'स्पन्द-कारिकाओं को ही (जो तीन खण्डों में हैं) उपर्युक्त स्पन्दसूत्र मानकर कल्लटकृत मानते हैं। परन्तु ऐसा मानने का आधारभूत कोई प्रमाण नहीं। स्पन्द

१–रा० त० ५/६६

२–ई० प्र० वि० भाग १ पृ० १०

३–इति संक्षेपतः सम्यक् सूत्रवार्तिकमुत्तमम् ।
शतत्रयेण श्लोकानां नवत्यांचोपवर्णितम् ॥ शिवसूत्रवार्तिक पृ० ८८

कारिकाओं पर लिखी गई अपनी 'स्पन्दसर्वस्व' नामकवृत्ति में भट्टकल्लट उन्हें आचार्य वसुगुप्त-रचित ही बताते हैं, [1]

भट्टकल्लट ने कारिकाओं को ही स्पन्दामृत कहा है, अतएव उनका विभाजन 'निःष्यन्दों' में किया गया है, अमृत के ही तो 'निःष्यन्द' होते हैं ? अतः वसुगुप्त की ही रचित स्पन्दकारिकायें हैं। यही सिद्ध होता है।

भास्कराचार्य ने भट्टकल्लट को 'स्पन्दसूत्रों' का प्रणेता बताया है। स्पन्दकारिकाओं का नहीं। अतः भट्टकल्लट द्वारा लिखित स्पन्दसूत्र सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं यही मानना समीचीन प्रतीत होता है। विज्ञान भैरव के विवृत्तिकार काश्मीरक शिवोपाध्याय विज्ञानभैरव की टीका (पृष्ठ ८४) में लिखते हैं "यदुक्तं वसुगुप्तपादैः

"एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः", [2]

इन साक्ष्यों के आधार पर यही सिद्ध होता है कि 'स्पन्दकारिका' ग्रन्थ के रचयिता आचार्य वसुगुप्तपाद ही हैं भट्टकल्लट नहीं।

शिवपुराण कैलाशसंहिता से ज्ञात होता है कि शिवसूत्रों पर भगवान् सुब्रह्मण्य के वार्तिक थे जो उपलब्ध नहीं हैं [3]

१–"दृब्धं महादेवगिरौ महेशः स्वप्नोपदिष्टाच्छिवसूत्रसिन्धोः।
स्पन्दामृतं यद् वसुगुप्त पादैः श्री कल्लटस्तत्प्रकटीचकार॥
(अर्थात् वसुगुप्तयादैः स्पन्दामृतं दृब्धं कारिका रूपेण रचितं-तत् श्री कल्लटः प्रकटीचकार विवृतवान्)

२–स्पन्दका० ३/४१

३–"प्रज्ञानं ब्रह्मवाक्ये तु प्रज्ञानार्थः प्रदृश्यते।
प्रज्ञानशब्दश्चैतन्यपर्यायः स्यान्नसंशयः॥
चैतन्यमात्मेति मुने शिवसूत्रं प्रवर्तितम्।
चैतन्यमिति विश्वस्य सर्वज्ञानक्रियात्मकम्॥
स्वातन्त्र्यं तत्स्वभावो यः सशिवः परिकीर्तितः।
इत्यादि शिवसूत्राणां वार्तिकं कथितंमया॥
ज्ञानंबन्ध इतीदं च द्वितीयं सूत्रमीशितुः।
ज्ञानमित्यात्मनस्तस्य किञ्चिज्ज्ञानक्रियात्मकम्॥

शिवसूत्रवृत्ति

इनके अतिरिक्त काश्मीर ग्रन्थावली चतुर्थ-पञ्चम खण्ड में प्रकाशित शिवसूत्र वार्तिक के साथ एक शिवसूत्रवृत्ति नाम की संक्षिप्त टीका संवत् १९७० में प्रकाशित उपलब्ध है, परन्तु इस वृत्ति के लेखक का नाम नहीं दिया गया है। आरम्भ में लिखित श्री जगदीशचन्द्र चटर्जी की संक्षिप्त भूमिका से ज्ञात होता है कि यह वृत्ति क्षेमराज की 'शिवसूत्र बिमर्शिनी' का संक्षिप्त साररूप है ※।

आचार्य वसुगुप्त

शिवसूत्र के युगद्रष्टा आचार्य वसुगुप्तपाद के संबन्ध में हम ऊपर 'उनके द्वारा शिव सूत्रों की उपलब्धि कैसे हुई' इस विषय में पर्याप्त चर्चा कर आए हैं उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनके गुरु कोई

इत्याहापदेनेशः पशुवर्गस्य लक्षणम् ।
एतद् द्वयं पराशक्तेः प्रथमं स्पन्दतां गतम् ॥
(श्लोक ४३–४७)

※ वार्तिक के साथ काश्मीर रिसर्च विभाग के पण्डितों द्वारा लिखित संक्षिप्त टिप्पणी वार्तिक और वृत्ति दोनों के तात्पर्यार्थ का संकेत करती हुई दोनों व्याख्याओं का समन्वित प्रतिनिधित्व करती है।

तदनन्तर निम्नाङ्कित तीन श्लोक हैं जो वृत्तिकार कल्लट के हैंयथा–

"समाप्तं स्पन्दसर्वस्वं प्रवृतं भट्टकल्लटात् ।
स्वप्नप्रकाशैक चित्तत्वपरिरम्भरसोत्सुकात् ॥ १ ॥
दृब्धं महादेव गिरौ महेशः
स्वप्नोपदिष्टाच्छिव-सूत्रसिन्धोः ।
स्पन्दामृतं यद् वसुगुप्तपादैः
श्री कल्लटस्तत्प्रकटीचकार ॥२॥
आतपनान्मोटकान्तं यस्य मे गुरुसंततिः ।
तस्य मे सर्वशिष्यस्य नोपदेश-दरिद्रता ॥३॥"

पुनः ग्रन्थान्त में पुष्पिका इस प्रकार है। यथा–

"परिपूर्णेयं स्पन्दवृत्तिः कृति स्तत्रभवन्महामाहेश्वरा
चार्य वर्णभट्ट श्रीकल्लटपादानाम् ॥"

सिद्ध महात्मा थे, और स्वप्न में भगवान् शिव ने शिवसूत्र के विषय में उपदेश दिया था. अतः साक्षात् भगवान शिव भी इनके गुरु थे। इन्होंने स्वयं अपने स्तम्भ में कहीं भी अपने गुरु के नाम का निर्देश नहीं किया है। हाँ अपनी स्पन्दकारिका के अन्त में इन्होंने एक श्लोक द्वारा 'गुरु भारती' की वन्दना की है ※

इस श्लोक पर इनके शिष्य आचार्य कल्लट की वृत्ति इस प्रकार है–

"अगाधो ह्यप्रतिष्ठोऽनन्तः" ॥५२॥

इसके अनन्तर पुष्पिका इस प्रकार है–

इति श्री भट्टकल्लटविरचितायां स्पन्दकारिकावृत्तौ विभूतिस्पन्दस्तृतीयो निःष्यन्दः ॥३॥

२– उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'स्पन्दकारिका' में कुल ५२ श्लोक हैं, उनमें ५२ वां श्लोक (गुरुभारतीवन्दनापरक) आचार्य वसुगुप्त का ही है, उसे भी 'स्पन्दकारिका' ग्रन्थ का अन्तिम श्लोक मानकर उसपर भी भट्टकल्लट ने वृत्ति लिखी है। और उसके आगे '५२' संख्या भी दी गई है। अन्त में तीन श्लोक कल्लट के हैं, उनपर कल्लट की वृत्ति नहीं है यदि "अगाध" यह श्लोक भी कल्लट का होता तो इसपर भी कल्लट की वृत्ति न होती। परन्तु इस श्लोक को श्री रामकण्ठाचार्य ने अपनी स्पन्दकारिकाविवृति में आचार्य वसुगुप्तपाद के शिष्य कल्लट का मान करके उसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए लिखा है "गुरोः वसुगुप्ताभिधानस्य साक्षात् सिद्धमुखसंक्रान्तसमस्तरहस्योपनिषद्भूत स्पन्दतत्वामृत निःष्यन्दस्य भारतीं वाचं स्तौमि"। ऐसा मानने में ऊपर दी गयी अनुपपत्तियों का कोई समाधान उन्होंने नहीं किया है। अस्तु, यह चाहे जिसका हो सिद्धान्त पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

आचार्य वसुगुप्त श्री कल्लट के गुरू थे, कल्लट अवन्तिवर्मा (८५५-८८०) के समकालीन थे अतः आचार्य वसुगुप्त का समय ईशवीय नवम शताब्दी का प्रारम्भ रहा होगा ऐसा कहा जा सकता है। तन्त्रालोक से

※ अगाधसंशयाम्भोधि समुत्तरणतारिणीम्।
वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम् ॥ (स्पन्द कारिका-५२)

ज्ञात होता है कि कश्मीरनृपति 'ललितादित्य' (७३५-७६१) आचार्य अभिनवगुप्त के पूर्व पुरुष अत्रिगोत्रीय ब्राह्मण 'अत्रिगुप्त' को उनकी विद्वत्ता से अत्यधिक प्रभावित होकर मध्यदेश से अपने राज्य कश्मीर में ले आया था। गुप्त उपाधि से यह प्रतीत होता है कि आचार्य वसुगुप्त भी अत्रिगुप्त वंश-परिवार के ही अत्रिगोत्री ब्राह्मण रहे होंगे। तन्त्रालोक में उपर्युक्त का विवरण इस प्रकार लिखा गया है। यथा—

"कोऽप्यत्रिगुप्त इति नाम निरुक्तगोत्रः
शास्त्राब्धिचर्वणकलोद्यदगस्त्य गोत्रः॥
तमथ ललितादित्यो राजास्वकंपुरमानयत्
प्रणय-रभसात्कश्मीराख्यं हिमालयमूर्धगम्॥
तन्त्रालोक आ० ३७, श्लोक ३८-३९

स्पन्दकारिका

आचार्य वसुगुप्त का शिवसूत्ररहस्यों का व्याख्यात्मक एवं शैव-शास्त्रीय साधना और सिद्धान्तों का निरूपक, प्रमाणभूतग्रन्थ 'स्पन्द-कारिका' है, जो सम्प्रति उपलब्ध विस्तृत प्रत्यभिज्ञादर्शन का आधार कहा जा सकता है। इसमें कुल ५१ कारिकायें हैं जो स्पन्दसिद्धान्त का निरूपण करती हैं। इसमें तीन निष्यन्द (अध्याय) हैं। प्रथम निष्यन्द में २५ कारिओं में 'स्वरूपस्पन्द' द्वितीय निष्यन्द में ७ कारिकाओं में 'सहज-विद्योदयस्पन्द' और तृतीय निःष्यन्द में १९ कारिकाओं में 'विभूतिस्पन्द' का निरूपण किया गया है। क्षेमराज ने इन ५१ कारिकाओं में निबद्ध सिद्धान्तों को ही स्पन्दशास्त्र कहा है। इसमें सिद्धान्त निरूपणमात्र किया गया है, परपक्षखण्डनात्मक और स्वपक्षमण्डनात्मक दार्शनिकशैली का परिग्रहण नहीं है। स्पन्दकारिका की निम्नाङ्कित वृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं। भट्टकल्लट (८५५) की स्पन्दसर्वस्ववृत्ति, रामकण्ठ की स्पन्दविवृत्ति, उत्पलवैष्णव की स्पन्दप्रदीपिका और क्षेमराज की स्पन्दसन्दोह (केवल प्रथम कारिका पर) तथा स्पन्दनिर्णयवृत्ति। इनमें भट्टकल्लट के विषय में हम ऊपर लिख आये हैं कि वह अवन्तिवर्मा (८५५) के समय

अवतीर्ण सिद्ध पुरुष थे । 'रामकण्ठ' मुक्ताकण के अनुज और आचार्य उत्पल्देव के शिष्य थे।[1]

'मुक्ताकण' अवन्तिवर्मा के राज्यकाल (८५५–८८८) में प्रसिद्धि को प्राप्त थे[2]।

'उत्पल देव' अभिनवगुप्त के गुरु के गुरू थे[3]

अभिनवगुप्त का समय १९५० से १०२० तक माना गया है (भारतीय दर्शन पृ०४७५) इस प्रकार राजानक रामकण्ठ का काल दशम शताब्दी का आरम्भ ही हो सकता है, उनके बड़े भाई मुक्ताकण, अवन्ति वर्मा के राज्य काल के अन्तिम वर्षो में रहे होंगें । रामकण्ठ ने स्पन्द कारिकाओं को चार नि:ष्यन्दों में विभक्त किया है । प्रथम नि:ष्यन्द में १६ कारिकायें हैं, और द्वितीय तृतीय और चतुर्थ नि:ष्यन्दों में क्रमश: ११,-३, और २१ कारिकायें हैं । आचार्य रामचन्द्र की विवृति अत्यन्त विद्वत्ता पूर्ण, प्राञ्जल एवं प्रसन्न है । विस्तृत होने पर भी वह कल्लट की वृत्ति का अनुसरण करती है ।

उत्पल वैष्णव

उत्पल वैष्णव के पिता का नाम त्रिविक्रम था, उनका जन्मस्थान 'नारायणस्थान' (आधुनिक नारस्तान) था ।[4]

१–(क) "योनारायण इत्यभूच्छ्रुतनिधिः श्रीकान्यकुब्जे द्विजः,
तद्वंशस्वगुणप्रकर्षखचितो मुक्ताकणाख्योऽभवत् ।
तस्यैषासदृशानुजेन रचिता रामेण विद्वज्जन-
श्लाध्यत्वात्सफलश्रमेण भगवद्गीतापदार्थप्रपा ॥"

(ख) कृतिस्तत्रभवतो महामहेश्वराचार्य शिरोमणि-राजानक-श्रीमदुत्पलदेवपादपद्मानुजीविनो राजानक श्रीरामकण्ठस्य ।"

२–"मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः ।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥"
राजतरङ्गिणी ६/३४

३"–उवाचोत्पलदेवश्च श्रीमानस्मद्गुरोर्गुरुः ।" तन्त्रालोक १२।२५

४–"नारायणस्थानसंस्थ द्विजवर्य-त्रिविक्रमात् ।
जातो जनानुग्रहार्थं व्याख्यात स्पन्दमुत्पलः ॥"
(स्पन्दप्रदीपिका-प्रारम्भ–२ श्लोक ५)

उत्पलवैष्णवने आचार्य उत्पलदेव का उल्लेख अपनी 'स्पन्दप्रदीपिका' में दो बार किया है, (स्पन्दप्रदीपिका पृ० ३ और ३०) तथा अभिनवगुप्त से पूर्ववर्ती भास्कराचार्य के कक्ष्यास्तोत्र का भी उल्लेख स्पन्दप्रदीपिका (पृ०२६) में मिलता है, परन्तु उत्पलवैष्णव ने त्रिक दर्शन के सर्वाधिक प्रसिद्ध 'आचार्य अभिनवगुप्त का उल्लेख कहीं नहीं किया है, अतः अनुमानतः उत्पलवैष्णव का समय भास्कराचार्य के बाद और अभिनवगुप्त के पूर्व मानना ही उचित है। भट्ट कल्लट की 'तत्वार्थ-चिन्तामणि' वृत्ति का भी स्पन्दप्रदीपिका (पृ० ३०) में उल्लेख है। उत्पलवैष्णव की एक और पुस्तक का उल्लेख स्पन्दप्रदीपिका (पृ०३२) में मिलता है, वह है 'भोगमोक्ष-प्रदीपिका' जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं है।

क्षेमराज

क्षेमराज (९९०–१०५०) अभिनवगुप्त जैसे गुरू के सुयोग्य शिष्य थे, व्यापकता की दृष्टि से इनके ग्रन्थ अभिनव से कुछ ही न्यून हैं। शिवसूत्रविमर्शिनी, स्पन्दनिर्णय, स्पन्दसन्दोह के अतिरिक्त स्वच्छन्दतन्त्र, विज्ञानभैरव तथा नेत्रतन्त्र पर 'उद्योत' टीका, शिवस्तोत्रावली परटीका, और प्रत्यभिज्ञाहृदय आदि अनेक ग्रन्थ हैं।

आचार्य क्षेमराज ने 'स्पन्दसन्दोह के आरम्भ में आचार्य वसुगुप्त को 'महागुरू' शब्द से स्मरण किया है।[1]

'स्पन्दसन्दोह' के अन्त में इन्होंने अपने गुरु अभिनव का नाम्ना निर्देश किया है[2]।

स्पन्द सन्दोह में 'यस्योन्मेषनिमेषाभ्याम्' इस एक ही कारिका की व्याख्या में पूरेग्रन्थ(५१कारिकाओं)के विषय को क्रोडीकृत करकेआचार्य क्षेमने अपनी अलौकिक प्रतिभा के चमत्कार को प्रकट कर दिया है।

१–उन्मीलितं स्पन्दतत्त्वं महद्भिर्गुरूभिर्यतः।
ततएव तदाभोगे किञ्चित्कौतुकमस्ति नः॥ स्पन्दसन्दोह पृष्ठ ३

२–"सर्वज्ञप्रतिबोधविद्धमहसो, विद्याब्धिशीतद्युते–
र्हेलालोकन-कर्म-मोचितनतानन्तार्थि सार्थागुरोः।
श्रुत्वा सम्यगिदं प्रभोरभिनवात्स्मृत्वाच किंचिन्मया
क्षेमेणार्थिजनार्थितेन विवृतंश्रीस्पन्दसूत्रं मनाक्॥"

प्रत्यभिज्ञा शास्त्र

स्पन्दकारिका एवं अन्य पूर्ववर्ती शैवाचार्यो के ग्रन्थों तथा आगम ग्रन्थों में जो सिद्धान्त निरूपित किये गये थे उन्हें दार्शनिक रूप प्रदान करने के लिये प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का आविर्माव हुआ। जिसके द्वारा अन्य पूर्ववर्ती दार्शनिक पक्षों का दोषोद्भावनपूर्वक खण्डन करके स्वपक्ष, शिवाद्वैत सिद्धान्तों का शास्त्रानुमोदित सबल तर्कों द्वारा स्थापना की गयी है।

आचार्य सोमानन्द और शिवदृष्टि

शैवागम को शैवदर्शन का स्वरूप प्रदान करने वाले प्रथम आचार्य श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्री सोमानन्दप्रभुपाद हैं। इन्होंने शिवदृष्टि नामक ग्रन्थ की रचना करके शैवागम को एक उत्कृष्ट शैवदर्शन का स्वरूप प्रदान कर उसके यथार्थ महत्त्व को अभिव्यक्त किया है। इस ग्रन्थ में अनुष्टुम् छन्द के कुल ७२१ श्लोक हैं जो विषयानुसार ७ भागों में विभाजित हैं।

(१) प्रथम आह्निक में अपने परमशिवात्मक स्वरूप के नमस्कार के अनन्तर एक श्लोक के द्वारा सूत्ररूप में समस्त शास्त्रार्थ प्रकट करके परदशा से लेकर घटपटादि पर्यन्त शिवतास्थिति क्यों और कैसे रहती है इसका विवेचन किया गया है।

(२) वैयाकरणों के शब्दाद्वैत का स्वरूपकथन और उसका निराकरण दूसरे आह्निक का विषय है।

(३) तीसरे आह्निक में शाक्तों द्वैतवादीशैवों तथा पातञ्जलमत के अनुयायियों के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है।

(४) चतुर्थ आह्निक में अन्य दर्शनों की इस दर्शन के विषय में संभावित शङ्काओं का परिहार करके शिवाद्वैतस्वरूप का तर्कपूर्ण विवेचन किया गया है।

(५) पांचवें आह्निक में 'एक ही तत्त्व प्रमाता और प्रमेयरूप में सबभावों में अनुस्यूत है' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

(६) छठे आह्निक में वेदान्त, पाञ्चरात्र, जैन, सांख्य, न्याय, वैशेषिक बौद्ध आदि दर्शनों के परसत्तासंबन्धी सिद्धान्तों की अनुपयुक्तता प्रकट की गयी है।

(७) सब में अनुस्यूत निजशिवतत्त्वभाव की प्रतिपत्ति का रहस्य और उससे प्राप्त होने वाली सर्वनिर्भरा आनन्दावस्था सप्तम आह्निक का विषय है।

इस ग्रन्थ को उन्होंने प्रकरण कहा है।[1]।

आचार्य सोमानन्द को इस शिवदृष्टि नामक प्रकरण के प्रणयन की प्रेरणा स्वप्न में श्री महेश्वर से प्राप्त हुई[2]।

उन्होंने शिवदृष्टि में स्वयं लिखा है कि 'जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन मैंने इस प्रकरण में किया है, वे सब शिवाविष्टावस्था में किये गए हैं अतः 'शिवोदाता शिवोभोक्ता' इस शास्त्र के अनुसार सब शिवात्मक ही है, मेरी बुद्धि की उपज नहीं[3]

शिवदृष्टि पर आचार्य सोमानन्द के शिष्य श्री उत्पलदेवकृत वृत्ति, चतुर्थ आह्निक के ७४वें श्लोक तक ही उपलब्ध है। शिवदृष्टि का विशिष्टरूप यद्यपि दार्शनिक है, तथापि 'उसका सैद्धान्तिक स्वरूप आचार्य वसुगुप्त के शिवसूत्र, स्पन्दकारिका और मूल आगमग्रन्थों पर आधारित है' यह हम पहले कह आए हैं। जैसे समस्त शास्त्रार्थ को संक्षेपतः एक ही श्लोक में उपन्यस्त करते हुए आचार्य सोमानन्द ने कहा है—

"आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृत्तचिद्वपुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः ॥"[4]

१—"करोमिस्मप्रकरणं शिवदृष्ट्यभिधानकम्" शिवदृष्टि ७/१२१

२—इति कथितमशेषं शैवरूपेण विश्वं
जगदुदित महेशाच्चाज्ञया स्वप्नभाजा।
ययधिगमबलेन प्राप्य सम्यग्विकासं
भवति शिवमयात्मा सर्वभावेन सर्वः ॥ शिवदृष्टि ७।१०६

३—"मन्तव्ये चाभिमातव्ये बोद्धव्येधृसिसंगमात्।
सुखे-दुःखे विमोहे च स्थितोऽहं परमः शिवः ॥
प्रतिपादितमेतावत् सर्वमेव शिवात्मकम्।
न स्वबुद्ध्या शिवोदाताशिवोभोक्तेतिशास्त्रतः ॥" ७/१०४-१०५

४— शिवदृष्टि १/२

यह श्लोक शिवसूत्र के प्रथमसूत्र "चैतन्यमात्मा" पर आधृत एवं उसकी व्याख्यारूप है। यतः "चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रियात्मकशक्ति ही चैतन्य है, इससे अभिन्न स्फुरण (प्रकाश) रूप से सभी भावों में व्याप्त (दर्पणनगरन्याय से सर्वरूप में भासमान) आत्मा ही शिव है, यही उक्त दोनों का समान अर्थ है। आचार्य उत्पलदेव ने भी शिवसूत्रवृत्ति में मूलसिद्धान्त के समर्थन में स्पन्दकारिका का उद्धरण अनेकशः दिया है। शिवदृष्टि के मूल में भी स्पन्दकारिका का अनुसरण किया गया है ※ (द्रष्टव्य-शिवदृष्टि आ० १ श्लोक ९-१० तथा स्पन्दकारिका १/२२)। शिवदृष्टि के अतिरिक्त आचार्य सोमानन्द ने रुद्रयामल के एक अंशपर 'परात्रिशिका' नामक वृत्ति लिखी थी, जो अब उपलब्ध नहीं है। आचार्य अभिनवगुप्त ने उक्त परात्रिशिकावृत्ति का उल्लेख अपने ग्रन्थ 'परात्रिशिका विवरण में अनेकशः किया है [1]।

आचार्य सोमानन्द का समय अनुमानतः नवम शताब्दी का पूर्वार्द्ध रहा होगा। इन्होंने अपने को शिवशास्त्र के आदि प्रवर्तक त्र्यम्बकादित्य की १९वीं पीढ़ी का शैवाचार्य कहा है। १८वीं पीढ़ी में उत्पन्न शैवाचार्य का नाम 'आनन्द' था जो इनके पिता एवं शैवशास्त्र के गुरू भी थे। ऐसा शिवदृष्टि के अनुसार माना जाता है। 'साम्प्रदायिक जनश्रुत्ति के अनुसार 'आचार्य वसुगुप्तपाद भी इनके गुरू थे' ऐसा हम ऊपर कह आए हैं, 'क्रमकेलि' की व्याख्या में आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने श्रीसोमानन्द को क्रमदर्शन (कालीनय) में श्री गोविन्दराज का शिष्य निर्दिष्ट किया

१—"तदुक्तं सोमानन्दपादैः स्वविवृतौ।" परात्रिशिका-विवरण पृ० ६३

※ "साचदृश्याहृदुद्देशे कार्यस्मरणकालतः।
प्रहर्षाविदसमये दरसन्दर्शनक्षणे॥
अन्तलोचनतोदृष्टे विसर्गप्रसरास्पदे।
विसर्गोक्ति प्रसङ्गे च वाचने धावने तथा॥
एतेष्वेव प्रसङ्गेषु सर्वशक्तिविलोलता। (शिवदृष्टि १/९-११)

तथा

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीतिवामृशन्।
धावन् वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः॥ (स्पन्दकारिका १/२२)

है। श्री गोविन्दराज को क्रमदर्शन का उपदेश उत्तरपीठाधीश्वर श्री शिवानन्दनाथ की शिष्या पीठेश्वरी 'श्री केयूरवती' से प्राप्त हुआ था। आचार्य अभिनवगुप्त क्रमदर्शन में श्री गोविन्दराज के सब्रह्मचारी श्री भानुक की शिष्या पीठेश्वरी श्री मदनिका की शिष्यपरम्परासन्तति में आते हैं" यह सब तन्त्रालोक (४।१७३) की टीका में आचार्य जयरथ द्वारा उद्धृत आचार्य अभिनवगुप्त की क्रमकेलिव्याख्या के सन्दर्भ से ज्ञात होता है। ※

श्री उत्पल देव और ईश्वरप्रत्यभिज्ञा

हम ऊपर कह आए हैं कि श्री उत्पलदेव आचार्य सोमानन्दपाद के शिष्य एवं राजानक रामकण्ठाचार्य के गुरु थे, अतः इनका समय ई० सन् ८५० के लगभग होना चाहिए। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र को प्रौढि प्रदान करने का श्रेय आचार्य उत्पत्देलव को है। इनके पिता का नाम उदयाकर और पुत्र का नाम विभ्रमाकर था [1]

※ "श्री मदभिनवगुप्तपादाचार्यैर्यथा व्याख्यातं क्रमकेलौ-'श्री गोविन्दराजः श्री भानुकः, श्री एरकः एते उत्तर-पीठलब्धोपदेशात् श्री शिवानन्दनाथाल्लब्धानुग्रहाभ्यः पीठेश्वरीभ्यः श्री केयूरवती-श्रीमदनिका श्री कल्याणिभ्यः क्रमेण सममेवोपदेशं प्राप्तवन्तः। तत्राद्यः प्राप्तोपदेश एवं मनस्यकार्षीत्-एतावत्यधिगते किमिदानीं कृत्यमस्तीति ? इत्थं च निष्ठित-मना यावज्जीवमुपनतभोगातिवाहनमात्र - व्यापारः एतद्विज्ञानोपदेश पात्रशिष्टोपदेशप्रवणः शरीरान्तं प्रत्यैक्षिष्ट। सचेदं रहस्यं 'श्री सोमानन्द नाथाय' गुरवे संचारयांम्बभूव। द्वितीयोऽपि एवमेवास्त। तस्यैव चैषा 'श्री मदुज्जटोद्भट्टादि-नानागुरु परिपाटीसन्ततिः यत्प्रसादासादितमहि-मभि रस्माभिरेतत्प्रदर्शितम्।"

१—"जनस्यायत्नसिद्ध्यर्थमुदयाकर सूनुना।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञेय मुत्लेपनोपपादिता॥" (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग२ ४/२-३)
एवम् "विभ्रमाकर संज्ञेन स्वपुत्रेणास्मिचोदितः।
पद्मानन्दाभिधानेन तथा सब्रह्मचारिणा॥
ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तविस्तरे गुरु-निर्मिते।
शिबदृष्टि प्रकरणे करोमि पदसंगतिम्॥" शिवदृष्टिवृत्ति, प्रारम्भ पृ०२

इनकी प्रतिभा का प्रकाशक ग्रन्थरत्न है-"ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-कारिका" चार अध्यायों में विभक्त पद्यमयी रचना। निरूपित विषयों के अनुसार चारों अध्यायों के निम्नाङ्कित नाम हैं। यथा–

(१) ज्ञानाधिकार (२) क्रियाधिकार (३) आगमाधिकार और (४) तात्पर्याधिकार। इसके पद्यों को 'सूत्र' कहा गया है। आचार्य उत्पल ने इस पर दो टीकायें लिखीं जिनमें से 'वृत्ति' नाम्नी एक ही टीका अपूर्णतः उपलब्ध है। इस पर अभिनवगुप्त ने 'विमर्शिनी' नामक महत्त्वपूर्ण वृत्ति लिखी, जो 'लघ्वीवृत्ति' कही जाती है। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' के निर्माण के अनन्तर ही श्री उत्पलदेव ने 'शिवदृष्टि' पर वृत्ति लिखी है जैसा कि ऊपर लिखे शिवदृष्टि-वृत्ति के "ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तविस्तरे" इस पद्यांश से अवगत होता है। उत्पलदेव प्रौढ तार्किक होने के अतिरिक्त सरस भक्त कवि थे, जिसकी पुष्टि उनके स्तोत्र-संग्रह से की जा सकती है जो 'शिवस्तोत्रावली' के नाम से प्रकाशित है।

'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' त्रिक सम्प्रदाय का मननशास्त्र है– परपक्षखण्डन पूर्वक स्वपक्ष-स्थापनात्मक ग्रन्थ, जिसके नाम पर ही यह दर्शन प्रत्यभिज्ञादर्शन के नाम से प्रख्यात हुआ। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की 'विमर्शिनी नाम्नी दो वृत्तियों की रचना कर अभिनवगुप्त ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की। प्रथम उत्पलवृत्ति की व्याख्या होने से 'लघ्वी' और दूसरी उत्पलरचित विवृति की व्याख्या होने से 'बृहती' के नाम से प्रख्यात है। दोनों 'विमर्शिनी' कही जाती हैं। ये ही पांचो ग्रन्थ इस दर्शन के मूल शास्त्र हैं ※।

'सूत्र' से तात्पर्य ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका से है। 'वृत्ति' तथा 'विवृत्ति' उत्पलदेव की ही कृतियाँ हैं, जिनमें प्रथम अंशतः प्राप्त है तथा द्वितीय अप्राप्त है। अन्य दोनों अभिनवगुप्त की रचनायें हैं। शिवदृष्टि इन सबका आधारभूत प्रकरण ग्रन्थ है।

※ "सूत्रं वृत्तिर्विवृत्तिर्लघ्वी बृहतीत्युभे विमर्शिन्यौ।
प्रकरण विवरण पञ्चकमितिशास्त्रं प्रत्यभिज्ञायाः॥"
सर्वदर्शन संग्रह

उत्पलदेव की 'सिद्धित्रयी' में 'अजडप्रमातृसिद्धि,' ईश्वरसिद्धिः' और 'संबन्धसिद्धि' की गणना है।

अभिनवगुप्त

आचार्य उत्पलदेव के प्रशिष्य तथा लक्ष्मणगुप्त के शिष्य 'अभिनवगुप्त' का नाम दर्शन तथा साहित्य जगत् में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। जिस प्रकार 'अभिनवभारती' तथा 'लोचन' (ध्वन्यालोक टीका) ने इनका नाम साहित्य संसार में अमर कर दिया है, उसी प्रकार 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' तन्त्रालोक, तन्त्रसार, परमार्थसार, मालिनीविजयवार्तिक, और परात्रिंशिकाविवृति आदि ग्रन्थों ने 'त्रिकदर्शन' के इतिहास में इन्हें अमर बना दिया है। इनके विपुलकाय 'तन्त्रालोक' (जो जयरथ की विस्तृत टीका के साथ काश्मीर से १२ भागों में प्रकाशित है)को तो तन्त्रशास्त्र का विश्वकोष कहा जा सकता है। साहित्य तथा दर्शन का सुन्दर सामञ्जस्य करने का श्रेय महामहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तपाद को ही है। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होने के अतिरिक्त ये अलौकिक सिद्धपुरुष थे। ये अर्धत्र्यम्बकमत के प्रधान आचार्य श्री शम्भुनाथ के शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ सम्प्रदाय के सिद्धकौल थे। श्री सोमानन्द सम्प्रदाय में श्री उत्पलदेव के शिष्य श्री लक्ष्मणगुप्त इनके गुरू थे। इनके पिता का नाम 'श्रीनरसिंहगुप्त' था, 'श्रीचुखुलक' इनका लोकप्रसिद्ध नाम था। इनकी माता 'विमलकला' थीं। कुल-प्रक्रिया-गुरू श्री शम्भुनाथ थे [1]।

तन्त्रालोक के ३७वें आह्निक में अपनी पूर्ववंश परम्परासहित अपने विषय में आचार्य अभिनव ने जो विशद् एवं प्रसन्न वर्णन किया है, वह पढने योग्य है। उसके अनुसार बाल्यावस्था में ही इन्हें मातृवियोग प्राप्त हुआ, उससे इनके हृदय में जो संस्कार उद्‌बुद्ध हुआ उससे यह मानो जीवन्मुक्त हो गये। [2]।

१—"जयताद् जगदुद्धृतिक्षमोऽसौ भगवत्यासह शम्भुनाथएकः।
यदुदीरितशासनांशुभिर्मेप्रकटोऽयं गहनोऽपिशास्त्र मार्गः॥"
तन्त्रालोक १/१३

२—माता परंबन्धुरितिप्रवादः स्नेहोऽतिगाढी कुरुतेहिपाशान्।
तन्मूलबन्धे गलिते किलास्य, मन्येस्थिताजीवत एवमुक्तिः॥ तं० ३७/५७

पिता ने इन्हें शब्दशास्त्र की शिक्षा दी। प्रतिभातल से तर्कार्णवोर्मिविन्दुओं के आचमन से पवित्रचित्त होकर साहित्य के सान्द्ररसों के आस्वादनप्रसङ्ग में यह शिवभक्ति में इस प्रकार तन्मय हो गये कि इनका लोकव्यवहार ही छूट गया। यह गुरुकुलों में जाकर गुरु ओं की सेवा में संल्लग्न होगये। गुरुओं ने 'क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति' के अनुसार इनकी प्रतिभा और सेवा से प्रभावित होकर अनुग्रहपूर्वक विविध विद्याओं का उपदेश कर इन्हें अपने समान ही उन साम्प्रदायिक सभी विद्याओं के आचार्यत्व का अधिकार प्रदान किया, इस प्रसङ्ग में उन्होंने अपने जिन २२ गुरुओं का उल्लेख किया है, उनके नाम निम्नाङ्कित हैं–

(१) वामनाथ, (२) भूतराज, (३) नरसिंहगुप्त, (४) लक्ष्मणगुप्तनाथ, (५) शम्भुनाथ, (६) चन्द्रनाथ, (७) शर्मनाथ, (८) भवनाथ (९) भक्तिनाथ, (१०) विलासनाथ, (११) योगनाथ, (१२) आनन्दनाथ, (१३) अभिनन्दनाथ, (१४) शिवनाथ, (१५) शक्तिनाथ, (१६) विचित्रनाथ, (१७) धर्मनाथ, (१८) शिवनाथ, (१९) वामनाथ, (२०) उद्भटनाथ, (२१) भूतेशनाथ, (२२) भास्करनाथ—आदि–

क्षेमराज

क्षेमराज अभिनव गुप्त आचार्य के सुयोग्य प्रतिभा सम्पन्न शिष्य थे। इनके विषय में हम पहले (द्रष्टव्य पृ० ६३) कह आए हैं।

इनके अतिरिक्त इस मत के मान्य ग्रन्थ हैं-योगराजाचार्य (१०६०) कृत परमार्थसार टीका, जयरथ (११८०) लिखित तंत्रालोकटीका, भास्करकण्ठ (१७८०) रचित ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की 'भास्करी' टीका, गोरक्ष (महेश्वरानन्द) (१४वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) रचित परिमल सहित महार्थ-मञ्जरी, और नवोदिताचार्य श्री रामेश्वर झा (विहार) (वै० सं०२०१७) विरचित "पूर्णताप्रत्यभिज्ञा" नामक अभिनवग्रन्थ। इसमें दोप्रकरणों में लिखे गये १२४८ श्लोक हैं।

उपसंहार

इस सन्दर्भ के ऐतिहासिक विवेचन में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यही सिद्ध होता है कि भगवान् दुर्वासा से लेकर आचार्य श्री सोमानन्द के समय तक शैवदर्शन के पठन पाठन का प्रचार प्रायः मौखिक रूप में और वंश-परम्परा द्वारा होता रहा। श्री सोमानन्द जी ने इस परम्परा

की दिशा को बदल दिया। उन्होंने जहां शैवदर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का दार्शनिक शैली से प्रतिपादनपरक 'शिवदृष्टि' नामक पहला ग्रन्थ लिखकर शैव-दर्शन-साहित्य का सूत्रपात किया वहीं अपने शिष्य श्री उत्पलदेव जी को इस शास्त्र की शिक्षा-दीक्षा देकर शिष्य-परम्परा द्वारा इस शास्त्र के पठन-पाठन के प्रचार एवं तर्कपूर्ण ढंग से मौलिक ग्रन्थों की रचना द्वारा इसके साहित्य संवर्द्धनप्रणाली को भी जन्म दिया इस शिष्य परम्परा के प्रथम आचार्य श्री उत्पलदेव जी थे। अब वे शैव आचार्य शैव-दर्शन के मूल सिद्धान्तों के विषय पर स्वतन्त्र रूप में मौलिक ग्रन्थों की रचना करने लगे और इसके साथसाथ अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की मौलिक कृतियों पर वृत्ति आदि रूपों में टीकायें लिखने लगे, इस प्रकार शैवशास्त्र का वह विशाल अप्रतिम साहित्य उत्पन्न हुआ जो अब उपलब्ध है और जिसके अधिकांश ग्रन्थों को जम्मू व कश्मीर सरकार के रिसर्च कार्यालय ने प्रकाशित किया है। परम सौभाग्य का विषय है कि शैवावगम की इस चिन्तन परम्परा को महापुरुषों ने आज भी विच्छिन्न नहीं होने दिया है, जिसका परिणाम यह प्रकृत व्याख्याग्रन्थ है। कहना न होगा कि यह साहित्य इतना उच्चकोटि का, महत्व-पूर्ण तथा विशाल है कि यह संसार के किसी भी उन्नत देश के गर्व और गौरव का कारण हो सकता है। इसी लिये तो 'भारत' के संबन्ध में महाराज मनु का यह यथार्थ कथन है कि–

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।
(मनुस्मृतिः)

हिन्दी व्याख्या की आवश्यकता

उपर्युक्त शिवसूत्र व्याख्याओं के माध्यम से सामान्य साधकों द्वारा (जिनका संस्कृत वाङ्मय की दार्शनिक भाषाओं पर पूर्ण अधिकार नहीं है) शिवसूत्रों के साधनापक्ष और सिद्धान्त (दार्शनिक) पक्ष के मर्म को हृदयङ्गम कर पाना कठिन ही नहीं असम्भव भी रहा है। दूसरे संस्कृत व्याख्यायें प्रायः शास्त्रीय (प्रमाण) पक्ष को ही पुष्ट करती हैं, अतः सामान्य प्रतिभावाले संस्कृतज्ञ जिज्ञासु को भी तत्त्व का अनुभवपर्यवसायी

बोध नहीं करा पातीं । तीसरे जब इस आगमोक्त साधना में कल्याण का अधिकारभी मानवमात्र का अधिकार बताया गया है, तब सर्वसुगम राष्ट्रभाषा के माध्यम से इसका बोध कराना महेश्वर की अनुग्रहमूर्ति सिद्धमहात्माओं का स्वाभाविक कर्तव्य हो जाता है । इन्हीं आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर परम कारुणिक, दयामूर्ति, स्वरूपपूर्णबोधनिष्ठ, जीवन्मुक्त, परमहंस, स्वामी अभयानन्द सरस्वती महाराज ने लोकानुग्रहार्थ सर्वजिज्ञासुजन-सुगम राष्ट्रभाषा (हिन्दी) में उपर्युक्त शिवसूत्रों की विस्तृत प्राञ्जल और सुबोध व्याख्या की है ।

❖ इस व्याख्या की विशेषता ❖

इस व्याख्या में सभी संस्कृत व्याख्याओं का संवादी सारांश तो विद्यमान ही है साथ ही साधना और सिद्धान्त दोनों पक्षों को स्वानुभवामृतरस से परिप्लुत करके कृपापूर्ण एवं स्नेहमयी वाणी में अनेक दृष्टान्तों द्वारा हृदयङ्गम कराने का सफल प्रयत्न किया गया है । इस कारण व्याख्या यद्यपि प्रायः विस्तृत और कहीं कहीं (३।१७ आदि में) अधिक विस्तृत हो गई हैं तथापि उससे उत्तरोत्तर अनुभवात्मक प्रकाश बढता जाता है अतः सहृदयों के लिए उद्वेजक नहीं होती ।

❖ शिवसूत्र पर प्रकृत हिन्दी व्याख्या ❖

यह व्याख्या परम हंस स्वामी श्री अभयानन्द सरस्वती जो महाराज द्वारा प्रणीतहुई, । जो शैवागम की पूर्वप्रथितपरम्परा को पुनरूज्जीवित करती है। सरल हिन्दी भाषा में उपनिवद्ध होने के कारण यह सभी श्रेणी के जिज्ञासु अधिकारिजनों के लिए उपादेय है । साथ ही राष्ट्रभाषा में उपनिवद्ध यह प्रथम अनुभूतिपूर्ण व्याख्या है, अतः राष्ट्रभाषा के गौरव की भी अभिवृद्धि करती है । ॐ नमः शिवाय ॥

●

सेवासंक्रान्तविज्ञानोऽभयानन्द-गुरोर्निजः ।
शक्तिपात-प्रतिच्छायो रामानन्दो यतीश्वरः ॥

श्री गणेशायनमः । श्री सरस्वत्यैनमः । श्री गुरवेनमः ।

अथ शिवसूत्राणि ।

श्री अभयानन्द स्वामिकृतभाषा व्याख्योपेतानि

तत्रायं सामान्यचित्प्रकाशनिरूपणाख्यः

प्रथमः प्रकाशः

(१) चिदाकाशमये स्वाङ्गे, ? विश्वालेख्यविधायिने ।
सर्वाद्‌भुतोद्‌भवभुवे, नमो विषमचक्षुषे ।।

(२) नरर्षि-देव-द्रुहिण-हरि-रुद्रादिभाषितम् ।
उत्तरोत्तर वैशिष्ट्यं पूर्व-पूर्वप्रबाधकम् ।।

मनुष्य, ऋषि, देवता, ब्रह्मा, हरि, तथा रुद्र आदि के वचन उत्तरोत्तर विशिष्ट माने गये हैं, अतः परसे पूर्व पूर्व प्रबाधित होते हैं।

राजा एवं राजसचिवगण मिलकर जिस किसी भी विषय का निर्णय, जिस समय कर रहे हों, उस समय वहाँ ऋषि आ जायँ तो उन्हें ऋषि के वचन का समादर करना चाहिये। जहाँ ऋषि समुदाय में देवता आ जायँ तो ऋषियों को चाहिये कि वे देवताओं का अनुगमन करें, पर देवता समुदाय में ब्रह्मदेव यदि आयें तो देवताओं को ब्रह्मा के वचन का आदर करना चाहिये, ब्रह्मा को श्री हरि के वचन का समादर करना चाहिये, श्री हरि स्वयं भी श्री रुद्रभगवान् शिव जी के वचन का सर्वश्रेष्ठ रूप में समादर करते हैं। यहाँ उत्तरोत्तर वैशिष्ट्य तथा पूर्व-पूर्व का प्रबाध है, उत्तरोत्तर वाणी का पूजन, याने (अर्थात्) स्वीकार्य है।

आत्मा के यथार्थ स्वरूप के न जानने से, आत्मा के विषय में बहुत सी विप्रतिपत्तियाँ हुई हैं। सर्वसाधारण देह को ही आत्मा मानते हैं,

---

(१) उत्पलदेव की शिवदृष्टिवृत्ति। (२) तन्त्रालोक आ० ४, श्लोक २४८

इस में नासमझ पशु-पक्षी तो हैं ही; मनुष्य भी बहुतेरे हैं, जो देह ही को आत्मा मानते हैं, कोई प्राण को, कोई मन को, कोई बुद्धि को, कोई शून्य को ही आत्मा कहते हैं। वास्तविक आत्मा क्या है ? इसका निश्चय नहीं हो पाता।

इसलिये श्री महादेव जी ने स्थयं कृपा करके आत्मा का निश्चय कराने के लिये, आत्मा और आत्मा का ऐश्वर्य समझाने के लिये, पावन सूत्रों की रचना की है। संसार में जितने प्रकाश हैं- सूर्य, विद्युत्, नक्षत्र, अग्नि, चन्द्रमा; ये सभी विमर्श से शून्य हैं। परन्तु आत्म-प्रकाश सदा प्रकाश-विमर्श रूप है। यह निश्चय सब को है कि "हम हैं" और अपने होने का 'विमर्श' याने अनुभव भी है। अपने विषय में किसी को शङ्का नहीं है कि "मैं हूँ या नहीं" ?। किन्तु मैं क्या हूँ ? इसका निश्चय नहीं। यदि मैं पञ्चभूत त्रिगुण से रहित हूँ तो क्या हूँ ? 'अपने आप को व्याप्य या व्यापक क्या मानूँ ?' इस विषय की जानकारी सब को नहीं है। भगवान् भाष्यकार का कहना है—

देहोऽहमित्येव जडस्य बुद्धि–र्देहे च जीवे विदुषस्त्वहं धीः।
विवेकविज्ञान-वतो महात्मनो, ब्रह्माहमित्येवमतिः सदात्मनि॥

जो केवल चेतन आत्मा को नहीं जानते ऐसे जड़बुद्धि पुरुषों को 'देह ही मैं हूँ' यही निश्चय है, और जो विद्वान् हैं, वैदिक हैं, वे देह और जीव दोनों में आत्मबुद्धि रखते हैं, यद्यपि वे देह से देही आत्मा को पृथक् निश्चय करते हैं, स्वर्गादि सुख के लिए पुरुष कर्म करते हैं, नरकादि दुःखों से बचने के लिए निषिद्ध कर्मों का त्याग करते हैं, तथापि चैतन्य आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते। पुर्यष्टक से वद्ध होने के कारण पुर्यष्टक रहित सर्वगतचित्स्वरूप को नहीं जानते। जो विवेकी महात्मा हैं, वे देहबुद्धि और जीवबुद्धि को छोड़ कर आत्मा में ब्रह्मबुद्धि का निश्चय करते हैं। वे कहते हैं—

"न भूमि र्न तोयं न तेजो न वायु- र्न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः।
अनैकान्तिकत्त्वात्सुषुप्त्येकसिद्धे- स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्॥
न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा, न मे धारणा-ध्यान-योगादयोऽपि।
अनात्माश्रयत्वाद् ममाध्यासहानात्, तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्॥

ऐसे विशुद्धविवेकविज्ञानसंपन्न परशक्तिपातविद्ध अधिकारी के लिये आत्मस्वरूपोपदेशार्थ आदिवक्ता भगवान् ने "चैतन्यम् आत्मा" इस प्रथमसूत्र की रचना की :—

चैतन्यमात्मा ॥ १ ॥

आत्मा चैतन्य है।

प्रकाश-विमर्शस्वभाव ज्ञान-क्रियास्वभाव आत्मा का स्वरूप है। अचैतन्यदेहादि स्वभाव नहीं है, अतः देहादि आत्मा नहीं है। यद्यपि क्रिया का वास्तविक मर्म विमर्श ही है, क्योंकि कोई भी क्रिया, जिसका पूर्व उत्तर विभाग होता है, बिना ज्ञान हुए वह क्रिया, क्रिया ही नहीं है, फिर भी क्रिया के विषय में विभ्रम होना स्वाभाविक है, क्योंकि एक कायिकी क्रिया है और एक मानसिकी। जैसे—

गुरु वशिष्ठ अपने मनोमय देह से इन्द्रलोक में जाकर इन्द्र के शरीर को हिलाते हैं, इन्द्र हिलते तो हैं, पर यह नहीं जानते कि कौन हिला रहा है। हिलना हिलाना दो क्रियायें हो रही हैं। शरीर हिलता दिखता है तो 'किसी ने हिलाया' ऐसा अनुमान निश्चित है। हिलाने वाली सारी क्रिया वसिष्ठ की केवल मानसी है। इस को केवल वसिष्ठ ही जानते हैं। इन्द्र भी क्रिया का अनुभव करते हैं, कर्ता का नहीं, उनको भी कोई कर्ता अनुमित होता है। "यहाँ देह क्रिया के मानसी होने पर भी स्वतंत्र देहक्रिया का भ्रम होता है।

चेतयते इति चेतनः। "चेतनस्यभावः चैतन्यम्" (द्रष्टृशक्तिः)। भाव प्रत्यय है। "नाना रूपेण चेत्यते प्रतीयते" इति वा चेतनः।

जैसे स्वप्न में एक ही स्वतन्त्र, चेतन नाना चेतना (द्रष्टा) और चेत्य (दृश्य) रूप स-स्वयं ही सर्वज्ञान और क्रिया का ज्ञाता, कर्ता होता है। "क्रिया जड़ में होती है, ज्ञान चेतन में होता है" यह विभ्रम उस दशा में भी प्रतीत होता है, परन्तु ज्ञान और क्रियामात्र का स्वामी प्रकाश-विमर्श स्वरूप आत्मा ही होता है, जिसको "सदेव सौम्यः इदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्" कहा है, वही सद्रूप ब्रह्म इच्छापूर्वक समस्त जाग्रत्जगत् का ज्ञाता कर्ता है। प्रति अन्तःकरण में, जो अणु आत्मा है और अणुओं में, जो विभु है वह एक ही सत् चित् सुख शिव स्वरूप है। आत्मा में शिवता सर्वत्र परिपूर्ण है, परन्तु पञ्चभूतों में जो अहन्ता इदन्ता प्रतीति रूप आवरण है, इसी से सब शिव स्वरूप होने पर भी अशिव से बने हुए हैं ॥ १ ॥

कृपानाथ भगवान् शंकर ने "चैतन्यमात्मा" यह कह करके आत्म-विषयक विभ्रम दूर कर दिया। अब सहज शिवता (सर्वज्ञान क्रिया समरसीभूत, जो शिव है, उसी पर आवरण क्या है ? इसका समाधान करते हुए कह रहे हैं :—

ज्ञानं बन्धः ॥ २ ॥

अविद्या मूलक भेद ज्ञान (मेय-मान-मातृरूप ज्ञान) ही बन्ध (आवरण) है।

भगवान् शंकर कहते हैं कि द्रष्टा-दर्शन-दृश्य रुप जो भेद-प्रथात्मक ज्ञान है, शिव-स्वरुप के अनुभव में यही बाधक है। अथवा—

"चैतन्यमात्माऽज्ञानं बन्धः" इस प्रकार संहितापाठ में अकार का प्रश्लेष करके (स्वचित्स्वरूपाज्ञानं बन्धः) आनन्द-चित्-सद् रूप निजात्मा का जो अबोध है यही बन्धन है।

'अहं-मम-इदम्' इस प्रकार का भेद-प्रथात्नक जो ज्ञान है यही बन्धन है। 'पञ्चभूत वाला (देह स्वरूप) मैं 'अहं' और मेरे (स्त्री-पुत्रादि) 'मम' और इदं-याने जगत्* ('यह' शब्द से जाना जाने वाला) इस प्रकार भेदोल्लेख पूर्वक शब्दानुवेध से ही जो मन में भेद उत्पन्न हुआ, यह मायीयमल (अविद्या) मूलक है। अहन्ता इदन्ता में अपना स्वतन्त्र ऐश्वर्य (विभुत्त्व) नहीं भासता, क्योंकि व्यापक स्वरूप की अख्याति अमान्य है।

---

*और 'यह' शब्द से जाना जाने वाला जगत् 'इदं',

टि० (१) तन्त्रालोक आ० १, श्लोक २७-३० में इन सूत्रों की प्रश्लेषणपरक व्याख्या की गई है, यथा—

"चैतन्यमात्मा ज्ञानं च बन्ध इत्यत्र सूत्रयोः।
संश्लेषेतरयोगाभ्यामयमर्थः प्रदर्शितः॥
चैतन्यमिति भावान्तः शब्दः स्वातन्त्र्यमात्रकम्।
अनाक्षिप्तविशेषं सदाहसूत्रे पुरातने॥
द्वितीयेन तु सूत्रेण क्रियां वा करणं च वा।
ब्रुवता तस्य चिन्मात्ररूपस्य द्वैतमुच्यते॥

"सोऽहं" "मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान, जो "देहोऽहं" इस बुद्धिवृत्ति को मर्दित कर सत्सङ्ग, सत्शास्त्र के अभ्यास से उत्थित हुआ है, इस ज्ञान को यद्यपि व्यवहार में मोक्षसंज्ञा दी गई है तो भी सही में यह बन्ध ही है। प्रकाशक सत्वगुण की ज्ञानासक्ति द्वारा बन्धकता गीता (१४।६) में भी कही गई है।*

तात्पर्य यह है कि सत्त्वगुण के कार्य रूप (अतएव मलिन और परिच्छिन्न' ऐसी) जो आत्माकारा वृत्ति है, तद्रूप ज्ञान के विषय-विषयि भाव रूप संबन्ध को आत्मा से जोड़ना, याने वस्तुस्थिति से उसको इस ज्ञानपाश में बांध कर गुण मर्यादा में लाना और गुणों के संसर्ग से उसके स्वरूपभूत अपरिच्छिन्न ज्ञान को मलिन तथा परिच्छिन्न याने मर्यादित करना हुआ। अतएव इस ज्ञान की भी गणना बन्ध कोटि में ही करनी पड़ेगी, इसे वास्तविक मोक्ष कहना नहीं बनता।

यदि आत्मा निखिल ज्ञान-घन है, फिर भी उसे प्रकाशित करने के लिये ज्ञान का सहारा लेना पड़ता है, तब तो ऐसा ही हुआ कि "सूर्य-उदय हुआ" यह जानने के लिये दीपक जला कर देख लें। पर ऐसा नहीं होता। जैसे 'इदन्ता' ज्ञानाभास है उसी प्रकार अहन्ता' भी ज्ञानाभास है, और 'इदन्ता-अहन्ता' ज्ञानाभास ही अखण्डित निर्विशेष शिवता-प्रभासन में अवरोध लाता है।

सन्त ज्ञान देव ने भी अपने "अमृतानुभव" (प्रकरण ३, ओबी १६, १७) में "ज्ञानं बन्धः" इस शिवसूत्र का उद्धरण देते हुए इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है ॥ २ ॥

द्वैतप्रथा तदज्ञानं तुच्छत्वाद्बन्ध उच्यते ।
तत एव समुच्छेद्यमित्यावृत्या निरूपितम् ॥"
(तन्त्रालोक, १ । २७-३०)

*टिप्पणी नं० (२) तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुख-सङ्गेन बध्नाति ज्ञान-सङ्गेन चानघ ॥ गीता अ.१४ श्लोक ६

इस शब्दानुवेध का क्या कारण है ? इस पर कृपाकुल शिव कहते हैं—

योनिवर्गः कलाशरीरम् ॥ ३ ॥

योनिवर्ग 'सर्वकारणरूपा अम्बा, ज्येष्ठा, रौद्री तथा वामा नाम से प्रसिद्ध जो शक्तियां हैं' उनका समूह। ये शक्तियां ही 'कला' अकारादि क्षकारान्त वर्णों में अधिष्ठित होकर विभिन्न शब्दानुवेध द्वारा पशुजीव में भेद-प्रत्ययों को दृढ़ करती हैं, जिससे वह अपने वैभव को भूलकर बन्धन को प्राप्त होता है।

अथवा—योनिवर्गः—माया प्रपञ्चोऽपि बन्धः। योनिवर्ग याने विश्व के कार्य में कारण करके मानी गई जो शक्तियाँ हैं। यह माया प्रपञ्च भी शब्द-अर्थमय बन्धन ही है।

कला—व्यापार, किञ्चित्कर्तृत्व रूप कार्मण मल है, यह भी बन्धन है। माया से लेकर पृथ्वी पर्यन्त जो तनु, करण, भुवन, भोग हैं, यह सब एक ही शुद्ध चिन्मात्र आत्मा का ऐश्वर्य है। उस ऐश्वर्य को इस माया मल ने आवृत किया है, और कला (किञ्चित्कर्तृत्वादि) के ही कारण सकल ऐश्वर्य अपना नहीं विदित होता।

अहन्ता इदन्ता के ज्ञानाभास से ही यह प्रकट हो रहा है। स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर अहन्ता और इदन्ता का अलग अस्तित्व नहीं रह जाता और तत्कृतबन्ध भी निवृत्त हो जाता है।

योनिः—आणव मल (अज्ञान) और मायीयमल (माया) इन दोनों के कारण अपना निजैश्वर्य निरोध हुआ है। इस लिये पञ्चभूत का बिस्तार ही भोग की भूमि है, वह है कला। उसका संस्कार पुण्यात्मक-पापात्मक शरीर है, यही बन्धन है।

पशुजीव एक बुद्धि (एक पुर्यष्टक) का परिग्रह करता है।

"योनयः शक्तयोज्ञेयाः"—योनि शब्द से-अम्बा (शान्ता), ज्येष्ठा, रौद्री और वामा-इन शक्तियों को जानना चाहिये।

१–"विश्ववमनाद् वामा"–विश्व की ओर ही मन जावे यह वामा शक्ति का कार्य है। यह सृष्टि-शक्ति है।

२– ज्येष्ठा का कार्य–लंगोटी, भस्मी, रुद्राक्ष धारण करना–गुहा-वन-गंगा किनारे ही रहना और पूजा पाठ करना मन को भाता है। यह पालन शक्ति है।

३– "अम्बा" (शान्ता)–जड़-चेतन सब चिद्‌रूप ही भासित होता है।

४– "रौद्री"– भयङ्कर-भयङ्कर काम कराने वाली होती है, यह पूर्णाहंता-ज्ञानशक्ति है। जैसे श्री कृष्ण भगवान् ने कंस को मारने के लिये रौद्री शक्ति धारण किया। यह संहार शक्ति है।

कला– संस्कार, पञ्चभूतों के जो भोग संस्कार हैं वे ही जीव को पुनः पुनः शरीर में लाते हैं। इदन्ता ज्ञेय है, इस ज्ञेय से संल्लग्न जो ज्ञान है इसी को पशु (जीव) अपना स्वरूप समझता है। इस ज्ञेय-ज्ञान से उज्झित जो स्वरूप है, उसे वह नहीं समझता ॥ ३ ॥

यह जो मातृकाविग्रह है– शब्द-समूह है, इसी के द्वारा– "अहम् इदं, मम इदं" 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' यह ज्ञान परम्परा से प्रसृत फैला हुआ है। यह ज्ञान ही सब को निजैश्वर्य अनुभव कराने में बाधक है और इसका कारण अक्षरमातृका ही है। इसलिये उमानाथ कहते हैं।

ज्ञानाधिष्ठानं मातृका ।। ४ ।।

पर अपर भेद से द्विविध ज्ञान का आधार मातृका (विश्वजननी) शक्ति ही है।

परज्ञान–अभेदाभास, जिसमें भीतर, बाहर सर्वत्र स्वात्ममयता ही भासती है, इसकी अधिष्ठात्री 'अघोराख्या' शक्ति है। भेदप्रथन रूप अपर ज्ञान, "जिसमें अभेदानुसंधान न होने से बहिर्मुखता के कारण स्वात्म-शिवता आवृत सी रहती है" इसकी अधिष्ठात्री 'घोराख्या' शक्ति है। ये दोनों शक्तियाँ मातृकारुढ़ (अर्थात् वर्णमयशब्दारुढ़) होकर ही पर-अपर ज्ञान (मोक्ष-बन्ध) का कारण बनती हैं, अतः मूलतः दोनों एक ही हैं। भाव यह है कि अकारादि-क्षकार पर्यन्त कला है, यही शब्द का कारण है, यही मातृका है। "मातरः शक्तयः" तत् तत् अर्थ को बोध कराने में समर्थ होती हैं। ये ही देवियाँ हैं, रश्मियाँ हैं, ये ही शब्दानुवेध पूर्वक ज्ञान का अधिष्ठान होती हैं– इसीलिये कहा है–

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दाऽनुगमादृते ।
अनुविद्धमिवज्ञानं, सर्वं शब्देन भासते ।।
वाग्रूपता चेदुत्कामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत साहि प्रत्यवमर्शिनी ।।" *

संसार चाहे लौकिक हो, चाहे पारलौकिक, गुण-भूतों से संबद्ध हो, या आत्मा-परमात्मा से। उसका ज्ञान शब्द के सुने बिना नहीं होता। (यूँ समझा जाय कि ज्ञेय-कोटि में आनेवाले सभी ज्ञान से जानने में आने वाले हैं, सभीज्ञेय, ज्ञाता के लिये ही हैं। परन्तु शब्द बिना, ज्ञेय का ज्ञान नहीं होता) शब्द वर्ण के बिना नहीं, वर्ण मातृका के बिना नहीं। इसलिये सर्वज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय त्रिपुटी का ज्ञान मातृका से ही होता है। इसलिये ज्ञान का अधिष्ठान मातृका है ।। ४ ।।

---

* (वाक्य पदीय-ब्रह्मकाण्ड श्लोक १२३-१२४ भर्तृहरि)

अब प्रतिबन्ध (आवरण तथा बहिर्मुखता) की निवृत्ति-के लिये और वास्तविक शिवता की अभिव्यक्ति के लिये उपाय महेश्वर कहते हैं :-

उद्यमोभैरवः ॥ ५ ॥

उद्यम—उद्योग, तदर्थ समुत्कण्ठारूपभैरवाख्य शिवतत्त्वावेश ही प्रतिबन्ध-निवृत्तिपूर्वक वास्तविक शिवत्त्वाभिव्यक्ति का उपाय है ।

केवल शिवत्त्व की अनुभूति की जो उत्कट अभिलाषा है, उसके लिये उत्कण्ठित, सदा उद्व्यथित, सदान्दोलित हृदय होना ही उद्यम-भैरव है ।

साक्षात् जो शिवत्व है सर्वज्ञत्व-सर्वकर्त्तृत्व, उसकी अभिलाषा। सब राष्ट्रपति कहाँ होना चाहते हैं ? यह पूर्ण कृपापात्र का पद है । श्रीगुरुमुख से शब्द सुने बिना नहीं बनता । 'अहमेव सर्वम्' जो कुछ भासता है, सब मैं ही हूं, 'मैंने ही भस्म कर लिया अपने में सबको, मुझ चिद्रुप में इदन्ता की प्रतीति हो रही है'—इस पूर्ण-अहन्ता का समुदय समस्त विकल्पों का नाशक है ।

'स्वस्वरूप' है इसका शिव, और उसको इसने नहीं जाना । उसकी उपलब्धि-उसको जानना, 'कब मेरा यह शिवस्वरुप परिपूर्ण भासित होगा ? इस प्रकार की प्रत्युद्बुभूषुता; स्वस्वरूप का जो अपरित्याग इस महाकार्य के लिए जो उद्युक्त है । भाव यह कि-जब विश्व से विरस हो जाता है तब भावाक्रान्त होता है, वही उद्योग है, जिससे पूर्णता होती है । यहां और उद्योग, उद्योग नहीं है । यह उद्योग ही भैरव है । "सियाराममय सब जग जानी, करहुं प्रणाम जोरि जुग पानी" यही पूर्णरूप शिव-रूप है। इस प्रकार का उद्यम 'भै-र-व-भै-भरणात्-सर्वत्र भरा होने से 'र' 'रमणात्' = सर्व में रमण करने के कारण 'व' 'वमनात्' = सर्व विश्व को उगलने से भैरव है ।

"एकोऽहं" का भान तो उसकी इच्छा पर है । यह काम शिव का है कि 'अखण्डित शिवस्वरूप का निभालन हो ।'

परमात्मा शिव की पूर्णकृपा से जब कभी सिद्ध का दर्शन हो गया और चरु याने उनके द्वारा खीर आदि या जो कुछ प्रसाद साग-पत्ता

मिल गया है, कुछ सुनने को, कुछ सेवा करने को मिल गया, यही इसका हेतु है, याने परमात्मा की पूर्ण कृपाही पूर्णस्वरूप-अवभासन में हेतु है।

चश्मा से हम देखसकते हैं। पर आंख हो तो। परन्तुमोह से जिसकी आंख फूटी है, उसे चश्मा देकर क्या होगा ?

स्व-भाव याने विद्यमान स्वस्वरूप के उन्मेष में पूर्णपरमात्मा की पूर्णकृपा ही कारण है। जो अन्तःस्पन्द है, वह भैरवोऽहम्'।

"हम मथुरा के रहने वाले हैं, हमारा नाम अमुक है" यह सत्य है और यदि तुम ब्रह्म हो, 'हम ब्रह्म हैं' तो झूठ मानते हैं। देखो! दुनिया झूठ को सच मानती है और सच को झूठ ? परमात्मा की इच्छा ॥५॥

इस प्रकार "भैरवावेशशाली उद्यमियों के लिये उन्मेष (विश्व दर्शन) दशा में भी संवित्प्रकाश का आवरण नहीं होता" यह कहा, अब 'निमेषा-वस्था में भी अपनीस्थिति आवृत नहीं होती" इस बात को बोध सागर महादेव कहते हैं:–

शक्तिचक्रसंधाने विश्वसंहारः ॥६॥

शक्तिचक्र (संपूर्णजगत्) का संधान=स्वीकरण हो जाने पर विश्व का निमेष द्वारा कारणभूत स्वात्मा में ही प्रविलय हो जाता है।

षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मक, जिस विश्व को अपने सच्चित्-स्वरूप से पृथक् मान कर अज्ञान-दशा में पशु-जीव चिन्ता और शोक से आकुल रहता है, भैरवावेश से अज्ञाननाश की दशा में उसी विश्व को यह "अपनी ही ज्ञान-क्रियात्मक शक्तियाँ हैं" "अपनी ही चिन्मयी मरीचियाँ हैं" ऐसा मानता है। ऐसा निश्चय कर लेने पर विश्व का संहार स्व-स्वरूप में विलय होकर, अपने से भिन्न जगत् का अस्तित्त्व नहीं भासता। अनावृत स्वशिवत्त्व ही भासता है। अविद्वान् को जो वृत्तिरूप विश्व था, वह विद्वान् को स्वशक्तिरूपा चिन्मरीचि ही निश्चित होता है। अर्थात् "स्वशक्ति प्रचयोविश्वम्" 'अपनी शक्ति का विस्तार ही विश्व है' ऐसा प्रतीत होता है।

जैसे स्वप्न का संसार स्वप्नद्रष्टा से पृथक् नहीं, अपितु उसका स्वरूप ही है' तथापि पृथग् जैसा भासता है, परामर्श करने पर 'स्वरूप ही है' ऐसा निश्चय हो जाता है, अतः अपरामर्शमात्र से ही वह विघ्नकारक है। स्वशक्ति-संधान होने पर स्वविभवही है, उसी प्रकार ज्ञानी का सम्पूर्ण विश्व स्वविभव ही है। जिस प्रकार प्रकाश-विमर्शात्मा निराश्रित शिव अपने से अभिन्न समस्त विश्व को अपनी शक्ति का प्रचय (विस्तार) ही मानते हैं, वृत्ति रूप नहीं, वैसे ही ज्ञानी के लिये भी जगत् 'वृत्ति' रूप नहीं। परशिव की जो दृष्टि है वही दृष्टि इस परमशिव ज्ञाता की भी है।

उस भैरव की एक महाशक्ति भैरवी है। भैरवी इच्छा ही है। प्रकृति पञ्चमहाभूत ही नहीं, अपितु वह सकल संवेद्य संवेदन को कवलित किये है। स्वचेतनशक्ति में ही ये उपसंहृत होते हैं। इसलिये उसी का अनुसंधान करो। "शक्तिचक्र-संधानात् विश्वसंहारः"।

'स्व' जो शिव है चिदानन्दवपु, अहन्ता इदन्ता भी इसका वपु ही है, इसका याने बोध का, वपु याने वैभव है। स्वशक्ति का अनुसंधान करे तो वह अहन्ता इदन्ता के परिच्छेद में नहीं रहता। इस दशा में स्व-स्वरूप भासित होने के कारण, अखण्ड-स्वरूप अवभासित होता है। जैसे अग्नि की दाहिका शक्ति है, सूर्य की प्रकाश शक्ति है। इसी प्रकार उस चिद्विभु की अहन्ता इदन्ता शक्ति है। उससे नित्य उपलब्धि स्वरूप की कहाँ अनुपलब्धि रहती है? वह आवरक नहीं बनती है। सारा संसार ही इस चिन्नाथ की शक्ति है। इच्छा, ज्ञान, क्रिया, ये जो तीन इसकी शक्तियाँ हैं, इन्हीं की सब शक्तियाँ पल्लवभूता हैं, अतः सब शिव की ही हैं। इस शक्तिचक्र का सन्धान क्या है? अपना ही "यह वैभव है" इसे स्वीकार कर लेना। इच्छा, ज्ञान, क्रिया, का पहले नाम था "वृत्ति" अब हो गई शक्ति। वृत्ति में पारतन्त्र्य है और शक्ति में स्वातन्त्र्य। अमित, आत्मा के इच्छानुसार होता है, मित, आत्मा के इच्छानुसार नहीं होता।

विश्व-संहार, अर्थात् चेतन के आधीन साराविश्व है। जो पहले वृत्ति-रूप से कही गई थी, अब शक्तिरूप से स्वीकार करिये, शक्ति से क्यों मुँह मोड़ते हो? वह कहाँ तुम्हें दबाती है? ॥ ६ ॥

इस प्रकार विश्व को "स्वशक्तिचक्र ही है" ऐसा निश्चय करने पर क्या होता है ? इस विषय पर देवदेव महादेव कहते हैं—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तभेदे तुर्याभोगसंवित् ॥ ७ ॥

जाग्रत्-स्वप्न सुषुप्त के भेद पर भी स्वशक्ति चक्र अनुसंधाता के लिये सदा तुरीयचैतन्यानन्द का अनुभव रहता है ।

ये अवस्थायें उसकी शक्तिरूपा होने के कारण सेविका होती हैं, न कि स्वरूपलोप और स्वरूपभूत-ऐश्वर्य का आवरण करने वाली ।

बहिर्मुखस्यमन्त्रस्य वृत्तयो याः प्रकीर्तिताः ।
अन्तर्मुखस्य तस्यैव शक्तयः परिकीर्तिताः ॥

बहिर्मुखस्यमंत्रस्य–'षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकं विश्वं स्वस्माद्बहिः' 'इति-मननस्य-ज्ञानस्य लक्षणया अनुभवितुः याः जाग्रदाद्यवस्थाः वृत्तयः, आवरण-भूताः बन्धहेतवः । तस्यैव अन्तर्मुखस्य 'स्वात्म चैतन्याभिन्नमेवसर्वम्' इति अनुभवितुः ताः अवस्थाः स्वशक्तयः इति निजाऽऽनन्दोन्मेषा एव न जातु आवृत्तयः इतिभावः ।

'षट्त्रिंशत् तत्त्वात्मक विश्व अपने से बाहर है' (पृथक् है) ऐसा मानना ही बहिर्मुखता है । बहिर्मुख के लिये जो जाग्रदादि अवस्थायें आवरण (स्वरूपाच्छादक) रूप में बन्ध का कारण बनती हैं, उसी की अन्तर्मुखता की स्थिति में=(सम्पूर्ण विश्व स्वात्मचैतन्य की शक्ति का विकास ही है' ऐसा अनुभव होने की स्थिति में) शक्तिरुप होने से आवरण नहीं बनतीं प्रत्युत निजैश्वर्य-रूप ही अनुभूत होती हैं । "शक्ति-चक्रसंधाने विश्वसंहारः इस को लक्ष्य में लो ॥ ७ ॥

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति का भेद होने पर भी तुर्या का ही भोग होता है । तुर्यानन्द का ही अनुभव बना रहता है तो जाग्रदादि का स्वरूप क्या है ? इस पर अनुग्रहमूर्ति शिव कहते हैं:—

ज्ञानं जाग्रत् ॥ ८ ॥

(सर्व साधारण को ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता रूप से जो भास रहा है, यह भास ही जाग्रत् है अर्थात् शिवमत में जाग्रत् ज्ञानशक्ति है। अर्थात् समूचा जाग्रत् जाग्रत्द्रष्टा का ज्ञान-किरण।)

बुद्धिआदि-श्रोत्रादि और वागादि बाह्य-इन्द्रियों के वृत्तिजन्यज्ञान का नाम जाग्रत् है। स्वप्न में बाह्येन्द्रियवृत्तिजन्य ज्ञान नहीं होता यही स्वप्न से जाग्रत् का भेद है।

यह निश्चय, अभिमान, संकल्प, शब्दाद्यनुभव रूप होता है। यह ज्ञान पशु-जीवों को स्वरूप से विमुख करने वाला होने पर भी ज्ञानी को स्वरूप स्फूर्तिदायी होता है। इस अवस्था में चिदात्मा की ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्य रूपाशक्ति स्फुट रहती है ॥ ८ ॥

अब शिवमत में स्वप्न क्या है ? इस पर नटराज कहते हैं:—

स्वप्नो विकल्पाः ॥ ९ ॥

केवल मनोमात्रजन्य, असाधारण-अर्थ-विषयक विकल्पों को स्वप्न कहते हैं। इसमें बाह्यवस्तु की अपेक्षा न करके केवल संस्कार-मात्र से अन्दर ही (मन में) पुर, गिरि, वन, उपवन आदि विकल्पों का विचित्र भास होता है। वे विकल्प वस्तुतः तुच्छ होने पर भी स्वप्नद्रष्टा को अपने-अपने अर्थों द्वारा होने वाले कार्यों का अनुभव कराते हैं। उन विकल्पों का नव-नव आविर्भाव ही स्वप्न है, जो पशु-जीव के स्वरूप को आवृत कर देता है। परन्तु स्वभावनिष्ठ छिन्नपाश ज्ञानी का स्वरूप स्वप्नदशा में भी अनावृत ही रहता है, क्योंकि विभु जो आत्मा है, वह दृष्टिस्वभाव है, स्वभावतः चित्प्रकाशरूप है, उसकी अन्तर्दृष्टि ही (भावात्मक अन्तःसृष्टि) स्वप्नरूप है, और बहिर्दृष्टि (भूतात्मक बहिः सृष्टि) जाग्रत् रूप है, इनको स्वशक्ति चक्र रूप से अनुसन्धान

करने पर जाग्रत् और स्वप्न इसका वैभव होता है, इससे इसके स्वरूप का लोप नहीं होता। वह न जाग्रत् को और न स्वप्न को अज्ञानियों के समान प्राकृत मान कर खिन्न ही होता है और जो पति-भाव को नहीं प्राप्त हुए, अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न को अपना वैभव न जाने (इसका कर्ता ज्ञाता अपने आप को न जाने) तो यही जाग्रत् और स्वप्न इसके स्वरूप और ऐश्वर्य के आवरणक होते हैं ॥ ९ ॥

अब शिवमत में सुषुप्ति क्या है ? बताते हैं:—

अविवेकोमायासौषुप्तम् ॥ १० ॥

स्व-सुख-स्वरूप का अविवेक ही माया है और इसी को सुषुप्ति कहते हैं।

'ज्ञान ज्ञेय मेरी शक्ति है' इसका अनुदय जिस दशा में है, वह सुषुप्ति है। चिद्रुप का अविवेक इसी को कहते हैं, क्योंकि 'वह यही है' यह विमर्श नहीं होता है। ज्ञान और ज्ञेय जिसकी शक्ति है, वही सोया है। सकल आवृति-जाल का पोषक होने से इसी को माया भी कहते हैं। अर्थ और स्मृति स्वात्मस्थ होने पर भी इसका भान न हो' इसी को सुषुप्तता कहते हैं। उस दशा में साक्षी आत्मा तो रहता ही है, वह भी न रहे तो जागने पर सुखस्वाप और कुछ भी न जानने का स्मरण ही किसको हो ? बुद्धि आदि करण भी तो उसी में विलीन रहते हैं। इन तीनों अवस्थाओं में ज्ञानी अवस्थावाले को ही देखता है, अतएव उसके स्वरूप का आवरण नहीं होता। पशुजीव के लिये स्वरुपावभासन न होने से ये अवस्थायें बन्धक हैं।

किसी से पूछा गया कि भाई ! तुम्हारे पास कितने पैसे हैं ? तो कहता है कि 'भाई ! हमने गिने नहीं,' इसी प्रकार सुषुप्ति में अपना स्वरूप तो है, पर खोजा नहीं। ज्ञानशक्ति जाग्रत्, अन्तर्नवनव-उदीयमान विकल्पात्मक स्वप्न, और स्वस्वरूप का अविवेक, सुषुप्ति है। स्वस्वरूप का अविवेक तो है ही, विवेचनाभाव भी है, यानी विषमदर्शनाभाव

सुषुप्ति है. यही अणु आत्मा की दूसरी शक्ति अविवेचना रुपा है, इसको माया भी कहते हैं।"

इन तीनों को चित्स्वरुप का ज्ञाता अपना वैभव समझता है। अर्थात् जब बहिर्दृष्टि की, तो बहिःसृष्टि की। अन्तर्दृष्टि की तो अन्तःसृष्टि की। उभयदृष्टि-सृष्टि रहित हुआ तो सुषुप्त हुआ, याने दोनों दृष्टि और सृष्टि का अपने में लोप (लय) कर लिया। इस प्रकार शिवमत का अभ्यास करने वाला आत्माको परिच्छिन्न नहीं समझता। "आत्मात्वं गिरिजामतिः"—यह आत्मा के स्थान में चिदानन्दघन महादेव को और बुद्धि के स्थान में गिरिजा भगवती को निश्चय करके जगत्-अवस्था को ज्ञानशक्ति, स्वप्न को विकल्प और सुषुप्ति को इसी अद्भुतरचयिता का विवेचनाभावरुप एक दशाविशेष समझता है, इस अद्भुत रचना विशेष को स्वस्वरूपवैभव जानता है, यह महान् शिवयोगी है। यही शिवमत में अभ्यास है ॥ १० ॥

अब तीनों गुणों के अनुरूप तीन अवस्थायें जो कही गई उन तीनों अवस्थाओं का जो ज्ञाता है उसको क्या फल मिलता है? इस पर महामहेश्वर कहते हैं:—

त्रितय भोक्ता वीरेशः ॥ ११ ॥

इन तीनों अवस्थाओं को जो निजशक्ति विभव जानता है, उसकी वीरेश संज्ञा है।

तीनों को त्याग कर तीनों से पृथक् अपने आप चिद्रूप का निश्चय करने वाला वीर है और इनको अपना विभव मानने वाला वीरेश है। अर्थात् जो इन तीनों अपनी शक्ति मरीचिकिरण जानता है वह तीनों का स्वामी है, नहीं तो पशु है। यद्यपि त्रिगुणमय विश्वका वमन और ग्रास प्रवाह के समान सतत् है, तथापि ग्रासस्वभाव ही वीरेशता है। इस प्रकार सृष्टि स्थिति संहृति जो कुछ जगद्व्यवहार है, सबका अधिष्ठान एक चिद्वपु है।

वीर और वीरेश की निम्न दृष्टान्त से भी जाना जा सकता है—

कोई तालाब में गया आबदस्त लेने, तो मेढक टर-टर करने लगे, वह घंटा भर बैठा रहा अरे ! क्यों टर-टर करते हो, लेने दो पानी, नहीं तो घर जा कर धोवेंगे। वे टर-टर करते रहे, वह चला गया घर। तीनों अवस्थाओं को मिथ्याजान कर छोड़देना उन से डरना है और उन्हें अपना ऐश्वर्य जानना मेढक के टर-टर करते रहने पर भी आबदस्त लेना है। वह डरता नहीं, मेढक हटाकर पानी ले लेता है ॥ ११ ॥

जब विश्वातीत निरामय अपने चित्स्वरूप का अवलोकन करता है तब जितने स्थापक जगत् के आश्चर्य हैं, सारे आश्चर्य एक ओर रह जाते हैं और सम्पूर्ण विश्व निज इच्छा शक्ति का वैभव भासता है इस योग भूमिका को विस्मय अर्थात् आश्चर्य की संज्ञा दी गई है। गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने कहा "आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्" इसी विषय में आशुतोष भगवान् शंकर यह अमृत वचन कहते हैं:—

विस्मयो योगभूमिका ॥ १२ ॥

शिव योगी को वेद्य-जगत् के दर्शन में अमृत रससार चिदानन्द का आस्वादन यौगिकविन्दु आदि स्थानावधान के अभ्यास के बिना ही होती है, जिससे वह अलौकिक विस्मयावस्था को प्राप्त हो जाता है, यह विस्मयही उसके परतत्त्वाधिरूढ़िरूप योग-भूमिका का ज्ञापक है।

जो सम्पूर्ण विश्व को एक चिद्रूप में प्रतिष्ठित भलीप्रकार जानता है, जिस क्षण में वह जानता है, वह क्षण महायोग नाम से प्रसिद्ध है। जैसे कोई जागकर अपनी पुरानी स्थिति में आये इसी प्रकार चित्स्वरूप निजात्मवैभव को जब यह यथार्थ देखता है, तो योग की अवस्था में महान् आश्चर्य होता है ॥ १२ ॥

तब इस प्रकार के महायोगी की दशा कैसी होती है ? जैसे उस आदिपरमात्मा की इच्छाशक्ति सर्वत्र अप्रतिहत स्वतन्त्र (साधनान्तर निरपेक्ष) रुप में प्रतिफलित होती है, उसी प्रकार उस योगी की इच्छा-शक्ति भी शिवतादात्म्यावेश से (शिवेच्छा से) अभिन्न होकर स्वतन्त्र ऐश्वर्य शालिनी होती है, वह कुत्सित जगत् को स्वात्मसात् करके समाप्त कर देती है" इसी बात को अनुग्रहमूर्ति शिव कहते हैं:—

इच्छाशक्तितमा कुमारी* ॥ १३ ॥

(सर्व शक्तियों का मूल होने के कारण "इच्छाशक्ति" शिव से अभिन्न तत्समरसीभूत है, और उनसे अभिन्न होते हुएही उनके पञ्चकृत्यों में सहायिका है, इसीलिये उसे 'उमा' भी कहते हैं, २

जिस प्रकार आदि-परमेश्वर की इच्छाही सकलजगत्-निर्माण में सर्वोत्तमाशक्ति है, उस महेश्वर को ब्रह्मादिदेवताओं के समान प्रकृति, गुण, पञ्चभूत आदि साधन लेकर जगन्निर्माण में साधनपराधीन नहीं होना पड़ता है। उसकी सर्वोत्तमा महाशक्ति इच्छा ही एकमात्र साधन है। महेश्वर से अभिन्न होने के कारण वह भी परतन्त्र नहीं है, इसलिये इस शक्ति को 'कुमारी' कहते हैं। साधनाश्रित कुत्सित मार्ग को मारने वाली होने से भी इसे 'कु-मारी' कहते हैं। परमेश्वर की इच्छाशक्ति में किसी प्रकार की कमी नहीं है। इसी प्रकार शिवयोगी में भी इसकी इच्छाशक्ति ही कुमारी है। अपने अन्दर जो इच्छा है वह किसी को

---

*यहाँ– "इच्छाशक्तिरुमा कुमारी" ऐसा पाठभेद भी मिलता है। परन्तु– "तमप् प्रत्यय से अनन्याश्रया इच्छाशक्ति द्योतित है" अन्य अनन्त-शक्तियाँ इच्छाशक्ति के अधीन हैं, अतः सर्वातिशायिनी शक्ति होने के कारण इसे 'शक्तितमा' कहा गया है, इसलिये शक्तितमा पाठ ही ठीक है।

२– 'उमासहायंपरमेश्वरं विभुम्' (उन्नतिः शिवस्य पञ्चकृत्यानि पूरयति या सा उमा अन्नपूरणा औणादिकोऽच्-मलोपश्च ततष्टाप्) इस दृष्टि से 'उमा' पाठ की भी संगति हो जाती है।

कोई दे नहीं सकता, इसलिये 'इच्छा' सदा कुमारी ही रहती है। जिस प्रकार परमेश्वर की इच्छा-शक्ति जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, निग्रह, अनुग्रहरुप कार्य को स्वतन्त्र करती है, साधन सामग्री की अपेक्षा करके नहीं उसी तरह शिवयोगी की स्वतन्त्र इच्छा है ॥ १३ ॥

जगन्निर्माण का मूल महेश्वर और उसकी इच्छाशक्तिमाहेश्वरी, दोनों अभिन्न शोभा पारहे हैं। जैसे उस महेश्वर का कोई एक व्यष्टि शरीर नहीं अपितु सभी शरीर उसी महेश्वर के हैं। इसी प्रकार शिवयोगी का भी एक व्यष्टिशरीर नहीं रह जाता। इसपर सर्वेश्वर भगवान् कहते हैं:—

दृश्यं शरीरम् ॥ १४ ॥

उस सर्वात्मभावको प्राप्त शिवयोगीका (अन्तर्बाह्य यावत् दृश्य हैं उनकी) समष्टि ही शरीर है।

जैसे स्फटिक में प्रतिफलित विभिन्न रूपों का अधिष्ठान स्फटिक ही है, स्फटिक ही उन में व्यापक होकर उन्हें प्रकाश और सत्ताप्रदान करता है, स्फटिक के बिना उनकी स्थिति असम्भव है, अतः स्फटिक ही तत्तत् आकार में भासता है, वैसे ही सर्ववेद्याकार परमशिव ही अपने चित्स्वरुप में प्रतिफलित, संकुचित, विकसित, बहिरन्तर्विद्यमान सभीभावोंका अधिष्ठान है और उनमें व्यापी होने से उनको सत्ता एवं प्रकाश प्रदान करने से सबके जीवनप्राण और आत्मा महेश्वरही हैं, अतः सम्पूर्ण दृश्य अशरीरी महेश्वर अथवा तद्भावाविष्टशिवयोगी का शरीरवत् होने से "दृश्यं शरीरम्" ऐसा कहा गया। इसलिये उसका एक शरीर नहीं। अपितु अन्तर-बाहर सर्वत्र निजपूर्णत्व का लाभ सतत होने के कारण सभी शरीर उसके हैं। जैसे एक सूर्य अनेक दर्पणों में प्रतिविम्बित होता है, तद्वत् यह योगी सभी देहों (भावों) में निजचेतन कोही प्रतिविम्बित देखता है ॥ १४ ॥

इस योगी को इसप्रकारका योग कैसे आता है ? जिससे अपने निज-मन्दिर में (निजस्वरूप में) सतत् स्थिर रहता है योगी को स्वहृदय में ही निभालन करने पर योग की उपलब्धि होती है। इसी को गौरीकान्त कहते हैं:—

हृदये चित्तसंघट्टाद् दृश्यस्वापदर्शनम् ॥ १५ ॥

ऐहिकामुष्मिक विषय से विरक्त अतएव उपरतचित्त को हृदय-चित्प्रकाश में एकाग्रकरनेसे उन्मेषस्वरूप दृश्यों का एवं निमेषस्वरूप स्वाप (निर्विशेषचिन्मयस्वरूप) का दर्शन (अनुभव) स्वाङ्गतुल्य होता है।

तुम जिस प्रकार अपने चित्तको दृश्य में नानावस्तुव्यक्ति में लगाते हो, उसी प्रकार कभी यदि अचानक तुम्हारा चित्त उस हृदय में एक बार भी संघट्ट करे, तो जैसे सुषुप्तिमें सारे विश्व का स्वाप हो जाता है, वैसेही दृश्य-अनर्थ का भी लय हो जाता है।

अथवा ऊर्ध्व और अधः स्थित शुद्धाशुद्ध अध्वा की अवधिरूप में मध्यस्थित सुषुप्ति संबन्धी आकाश को 'हृदय' कहते हैं। वह जो सौषुप्त-व्योम है, जिसको यहाँ हृदय शब्द से कहा गया है, वही सब भासों का मध्यस्थ है। यहाँ पहुंचकर आत्मा का जो समाधान होता है, कि 'अभी तक अनुपलब्ध आत्मा रहा अब समुपलब्ध-आत्मा हुआ' यही चित्त का चेतन के साथ संघट्ट है।' जब चित्तका संघट्ट उस हृदय से हो जाता है, तब दृश्य का स्वाप दिखाई देता है– अर्थात् समग्र विश्व स्वमरीचिकल्प पूर्ण-एकीभूत हो जाता है। ऐसी दशा में ब्रह्मक्षत्र (जातिमात्र) का बाध (निवृत्ति)आनुषङ्गिक हो जाता है। सारा दृश्य ही जब उसका निरावरण शरीर हो जाता है, तब उसमें चींटी, माटा, बिच्छू, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जाति उसके लिये नहीं है, सब खण्डों का बाध हो जाता है। क्योंकि वहाँ देहादिगत अहन्ता नहीं रहती, अतः अनावृत स्व-स्वभाव की उपलब्धि हो जाती है।

स्वस्वरूप में जो जागा, उसको यह साराविश्व निरावरण निज-इच्छाशक्ति का विभव दीखता है (अर्थात् सब चेतन की किरण है)

इसी का नाम है दृश्य-स्वापदर्शन। यहाँ विश्व-स्वापदर्शन का विधान क्यों करते हैं ? तो इसपर वचन है– "स्वापकारस्य मोहस्य हानावत्रच-दर्शनम्" स्वापकारक जो मोह है, उसकी हानि के लिये। योगी इस दिव्यमुद्रा के समावेशसे सर्वदा ही प्रबुद्ध रहता है।

अप्रबुद्ध को तो स्वाप का ही दर्शन होता है, विश्वस्वाप का नहीं। विश्वस्वाप का दर्शन तो तभी होता है, जब चित्तका हृदय-चेतन में संघट्ट हो। इसी योगी को स्वप्नस्वातन्त्र्य होता है और इसी को तमोरूप आवरण का निर्भेद और प्रतिभोदय भी कहते हैं। प्रतिभोदय से देश-कालादि-व्यवहित का ज्ञान और स्वप्नस्वातन्त्र्य से स्वेछानुसार-सृष्टि होती है ॥ १५ ॥

योगी को अखिलविश्वस्वाङ्गकल्प भासता है। इसी को यहाँ 'विश्वस्वाप' कहते हैं। सुषुप्ति में विश्वस्वापदर्शन नहीं होता क्योंकि वहाँ विश्वका लय होता है, स्वाङ्गकल्पभान नहीं, इसी को और परि-पुष्ट करते हुए करुणावरुणालय अनाथकेनाथ साधनान्तर बताते हैं—

शुद्धतत्त्वसंधानाद्वा ॥ १६ ॥

अथवा शुद्धशिवतत्त्व के संधानसे अखण्डशिवचैतन्य में शिवयोगी की स्थिति होती है।

उपाधिरहित स्वयंप्रकाश जो शुद्ध शिवतत्व है, इसके अनुसंधान से भी विश्व, स्वाङ्गकल्प भासता है, जैसे जागृत होने पर स्वप्न विश्व स्वाङ्ग-कल्प होता है। एवं शिवरूप को निजरूप से अनुसन्धान करनेपर सारा विश्व, अपना विभव भासता है। वस्तुतः बाह्य अहंकारका परित्याग होनेसे अपनेस्वरूप में अखण्ड स्थिति होती है ॥ १६ ॥

इति शिवचैतन्यनिरूपणम्

※ अथ–शक्तिचैतन्यनिरूपण ※

अब इस प्रकार के परिपूर्ण शिवस्वरूप का अनुशीलन करनेवाला योगी किस शक्ति से संपन्न होता है–इसपर कृपानाथ कहते हैं:—

स्वपदशक्तिः ॥ १७ ॥

स्वपद-शिवाख्य सत्पद का ज्ञान-क्रियात्मक जो बल है, वही स्वपद-शक्ति है– वहीपरानन्दरूप शाक्त चैतन्य है, जिसको 'लाभभूमि' भी कहते हैं, उसी भूमि को वह योगी प्राप्त करता है।

स्वपद का अर्थ है– सत्पद। उसी सत्पद को शिवशब्द से कहा गया है। उस शिवपद की शक्ति क्या है? ज्ञानक्रिया की परिपूर्णता। यही स्वपदशक्ति है। ऐसा जो शुद्ध शिवतत्त्व है, उसी शिवतत्त्व पर ही संपूर्ण विश्वपरिकल्पित है अर्थात् संपूर्ण विश्व शिवमय ही है। जैसे शिव में संकुचित पशुशक्ति नहीं है, किञ्चित् ज्ञान, किञ्चित् क्रिया नहीं है, इसी प्रकार शिवत्त्व लाभ करने वाला योगी सदाशिव के समान पशुता से मुक्त होकर जगत् का पति बन जाता है ॥ १७ ॥

※ अथ–आत्मचैतन्यनिरूपण ※

इस प्रकार के शिवत्त्वलाभ का अन्य कारण भी दीनानाथ कहते हैं–

वितर्क आत्मज्ञानम् ॥ १८ ॥

'विश्वात्मा शिव ही मैं हूँ' इस प्रकार का जो वितर्क अर्थात् जो विचार है, इसी को आत्मज्ञान कहते हैं।

इसमें विश्वविवेचनपूर्वक विश्वातीत, विश्वाधिष्ठान, शिवस्वरूप, स्वात्मा का साक्षात् अनुभव होता है।

देहादि उपाधियों का भेदन हो जाने पर अर्थात् 'देहादि मैं नहीं हूं' ऐसा निश्चय हो जाने पर 'मैं क्या हूँ'? "मैं प्रकाश-विमर्शैकघनचेतन शिव ही हूँ" इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा=अपने शुद्धस्वरूप की पहचान हो जाने पर–आत्मज्ञान संपन्न हो जाता है। इस स्थिति को 'प्रोल्लास-भूमि कहते हैं। इसमें महानन्दस्वरूपआत्मचैतन्य का उन्मेष होता है ॥ १८ ॥

"विश्रामरूप निरानन्द-शिवचैतन्यलाभरूप परानन्द-शक्ति चैतन्य और प्रोल्लासरूपमहानन्द-आत्मचैतन्य की भूमिका को प्राप्त योगी किस प्रकार के समाधि सुख का निरावरणलाभ करता है" इसपर अघोर महादेव करते हैं:—

लोकानन्दः समाधिसुखम् ॥ १९ ॥

लोक-ग्राह्य और ग्राहक अर्थात् दृश्य और द्रष्टा उभयवर्ग के प्रसरण काल में दोनों पदों में- ग्राहक और ग्राह्य में, शिवस्वरूप के भान होने से जो चमत्कारमय आनन्द होता है यही समाधिसुख है।

यहाँ पर 'लोक' पद-"लोक्यते इतिलोकः वस्तुग्रामः" तथा "लोकयति इति च लोकः ग्राहकवर्गः" इन दोनों व्युत्पत्तियों के अभिप्राय से कहा गया है, अतएव ग्राह्य-ग्राहक उभयवर्गपरक लोकशब्द है तथा च ("तस्मिन् लोके स्फुरतिसति प्रमातृपद विश्रान्त्यवधानात् तच्चमत्कार मयो य आनन्दः एतदेव अस्य समाधिसुखम्") उन दोनों वर्गों के स्फुरण-काल में भी उनमें शिवरूपता का निश्चयात्मक भान होने से शिवयोगी को अलौकिक चमत्कारपूर्ण जो प्रमोद होता है, यही इसका समाधि-सुख है।

"सर्वो ममायंविभवो, मयिसर्वं प्रतिष्ठितम्।
सर्वाणि स्वाङ्गकल्पानि, स्युःप्रमोदकराणि च"॥

"संपूर्णं जगदेवनन्दनवनम्" इत्यादि अनुभववाक्य इस स्थिति के उदाहरण हैं।

अथवा-सर्वोत्तम शुद्ध चित्प्रकाश ही बाहर, भीतर, सदोदित, नित्य सबको सत्ता प्रदान करने वाला है। अतएव सर्वस्वरूप है। सभी भावों का उद्भव एवं विभु सर्वव्यापक भी यही है। इसी को 'लोक' और इसी को 'आनन्द' भी कहा जाता है। बिना किसी यन्त्रणा (उपाधि) के अपने चित्स्वरूपका ही जो कचन (चमत्कारी-स्फुरण) है 'अहमस्मिपरं ब्रह्ममयिसर्वं प्रतिष्ठितम्' इस प्रतिष्ठितता का रसास्वादन 'तदेकतानता ही' समाधिसुख है ॥ १९ ॥

इस समाधिसुख में निमग्न योगी स्वतन्त्र सृष्ट्यादि कार्य कर सकता है। इस बात को स्वेच्छाविहितनानारूप महादेव कहते हैं—

शक्तिसंधाने शरीरोत्पत्तिः ॥ २० ॥

पूर्वोक्त स्वातन्त्र्यशक्ति का तादात्म्येन अनुसंधान करने पर स्वतन्त्र शिवयोगी अपनी इच्छानुसार देव-तिर्यक्-मनुष्यादि विलक्षण शरीरों की सृष्टि करने में समर्थ हो जाता है।

सभी भाव शक्तिरूप ही हैं, इच्छादिशक्तियाँ ही उनका उपादान हैं। शक्तिमान् चित्स्वरूप महेश्वर स्वेछामात्र से अन्य उपादानादि सामग्री के बिना ही, अपने प्रकाशस्वरूप में एकीभूत होकर स्थित समस्त शरीरादि अर्थजात को अपने चित्स्वरूपभित्तिपट पर चित्रकी भाँति उन्मीलित अथवा निर्भासित करता है। अतः परमात्मा की उसी शक्ति के साथ तादात्म्यापन्न-शिवयोगी स्वतन्त्ररूप में इच्छानुसार कायनिर्माण अनायास ही कर लेता है।

शक्ति जो निरावरण कुमारी इच्छाशक्ति पूर्व में कही गई। जिस प्रकार आनन्दघन चित्स्वरूप महेश्वर अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से सकल विश्वका लयोदय करते हैं एवं उसी स्वरूप और उसी शक्तिके अनुसंधान से यह शिवयोगीं भी जैसी इच्छा करता है, वैसे ही तनु, भुवन, भोग रच लेता है। शक्तिमान् शिवयोगी ही सच्चिद्रूप, प्रकाशक है। वह भी निरुपादान अन्तः स्थित सकलभावों को इच्छामात्र से ही बहिःप्रकाश करता है।

भूत, गुण का आश्रय करके — ब्रह्मा।
प्रकृति का आश्रय करके — विष्णु।
माया का आश्रय करके — रुद्र—ईश्वर सृष्टि करते हैं।

परन्तु यह शिवयोगी ब्रह्मादि के सदृश भूत, गुण, प्रकृति, माया रूप उपादान को लेकर विश्व रचना नहीं करता। अपितु– "इच्छयैवजगत्सर्वं ससर्ज भगवान् प्रभुः"

स्वेछामात्रसे संपूर्णजगत् की सृष्टि करता है। जैसे परमात्मा की इच्छाशक्तितमाकुमारी निरुपादान परमात्मा से ही अन्य उपादान

ग्रहणकलङ्क विमुक्त है–"अतर्क्यैश्वर्येत्त्वयि"। जैसे परमात्मा अपने को पञ्चभूत नहीं, त्रिगुण नहीं, पञ्चकञ्चुक नहीं, माया नहीं, विद्या-अविद्या नहीं, जानता केवल चित्स्वरूप सत्प्रकाश परिपूर्ण अपने आपको सदोदित जानता है, इसीलिये इसकी इच्छाशक्ति सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है। ("किमीहः किमुपादानइतिच") उस परमात्मा की इच्छा में ही ज्ञान और क्रियाशक्ति विद्यमान है, तत्पूर्वक पाँच और मुख्य शक्तियाँ हैं, वे हैं–ईशानी, आपूरणी, हार्दी, वामा और मूर्ति। अन्य 'विज्ञानदेहा' नाम की सारी शक्तियाँ भी इन्ही की अनुगामिनी हैं।

वस्तुतः सभी शक्तियाँ चित्स्वरूप की इच्छानुगामिनी हैं। 'प्रक्रियादेह' के निर्माण में इन्हीं का संधान कहा गया है। इस प्रकार की शक्ति का संधान करने पर जिस-जिस शरीर, भुवन, भोग का योगी संकल्प करता है, तत्क्षण अमरादिविलक्षण सृष्टिनिर्माण कर सकता है ॥ २० ॥

निजशक्ति-अनुसंधान से योगी इच्छामात्र से शरीरादिकों की उत्पत्ति कर सकता है। इस प्रकार के स्वतन्त्र योगी का विभव क्या है ? इस विषय के प्रतिपादन के लिये महामहेश्वर कहते हैं:—

भूतसंधान भूतपृथक्त्व विश्वसंघट्टाः ॥२१॥

भूतसंधान–भूत जो शरीर प्राणादि हैं, इनके आप्यायन-संवर्द्धन के लिये संधान-परिपोषण करना; भूतपृथक्त्व-व्याधि आदि के उपशम के लिये शरीरादि से व्याधि आदि को पृथक् करना; और विश्वसंघट्ट-देश-कालादि से विप्रकृष्ट-दूरस्थ एवं व्यवहित जो विश्व, उस सबका संघट्ट याने चाक्षुष विषयीकरण, इस योगी को निजशक्ति-संधान से यह सब कुछ होता है।

अथवा–शब्दादि शक्तियों के द्वारा आकाशादिभूतों का निर्माण ही 'भूतसंधान है। उन आकाशादि भूतों के मूर्तिभेद की विवक्षा से प्रत्येक भूत के साथ जो स्वसत्ता-ऐक्य का भान है वह भूत-पृथक्त्व है। इन भूतों की विविक्तता होने पर भी सामान्य-आत्म-सत्ता से एकता बनी

रहती है। आत्मा की सर्वत्र अनुगतता एवं भूतों की पृथक्ता ही भूत-पृथक्ता है। क्योंकि कार्य की अपेक्षा कर्तृ-अंश प्रवर होता है, व्यापक होता है। वृत्ति (सता). आह्लाद (आनन्द), प्रकाश (चैतन्य) और स्पर्शाऽनुभव (उन्मेषावस्था) की भूमिकाओं को धारण करने वाले विश्वनिर्माणयज्ञ में दीक्षित चिद्-विभु की ज्ञानऔरक्रिया इन दो शक्तियों को ही अर्क-इन्दु=जगत्कारणीभूत अग्निसोम, (अग्नीषोम) जानना चाहिये। पूर्वोक्त चार भूमिकाओं द्वारा इस चिद्विपु-योगी का संपूर्ण विश्व को 'स्व' में परामर्श ही 'विश्व-संघट्ट' है। स्थूल-सूक्ष्म पुर्यष्टक इस चिद्विभु के ही आधीन है, पुर्यष्टक के आधीन चिद्विभु नहीं है। पुर्यष्टक की भूमिका में विश्वनाटक का निर्वहण भी इस चिदात्मा की स्वेष्टक्रीडा ही है। [पांच भूत, तीनगुण=स्थूलपुर्यष्टक और पाँच तन्मात्रा, मन, बुद्धि अहंकार सूक्ष्मपुर्यष्टक हैं]

इसलिये इस प्रकार का शिवयोगी सारे विश्व को निजविभव जानने वाला स्वतन्त्र विश्व को क्रीडा समझता है। चिदात्मा का 'शुद्धअध्वा में उपादानभूत अत्यन्त स्वच्छ, चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक शक्तियों का जो समूह है, वही अधः अध्वा में पाँच पाँच करके तत्त्वों के क्रमावतरण का कारण है। जैसे-अकिञ्चनदशा (किंचिज्ज्ञत्वआदि अपूर्णदशा) के अवभासन के समय 'माया' भाव को प्राप्त चिदात्मा अपनी संकुचितशक्ति से पुंस्त्व की भूमिका को प्राप्त होता है। उक्त शक्तियाँ भी उस भूमिका के योग्य परिमितवैभव के उपभोग के लिये कञ्चुक बन जाती हैं। उसके पश्चात् पुरुष (ईश्वर) के नीचे के तत्त्वसमूहों के विस्तार के लिये, इच्छा-ज्ञान-क्रियारूप जो महेश्वरकी शक्तियाँ हैं, उनकी छाया का बल प्राप्त करके वही 'माया', गुणों की परिणति से उन्मेष को प्राप्त जो उनकी (गुणोंकी) साम्यावस्था रूप प्रकृति है, उसमें अधिष्ठित हो जाती है, जिसके आश्रयण से शिव ही पुर्यष्टक की भूमिका को प्राप्त करता है। इच्छाप्रधान त्रिशक्ति से मन, ज्ञानप्रधान त्रिशक्ति से बुद्धि और क्रियाप्रधान त्रिशक्ति से अहंकार तत्त्व बनता है। पाँचो शक्तियों के संबन्ध से ज्ञानशक्ति के प्राधान्य में पाँचो ज्ञानेन्द्रियों का अविर्भाव होता है, एवं क्रियाशक्ति के प्राधान्य में पाँचो कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

बाह्यजगत् में भी इन्हीं शक्तियों द्वारा स्थूल भावों की भूमिकाओं को भी क्रीडार्थ वह स्वेच्छा से ही ग्रहण करता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप में विश्वरचना करके, सब में अपने अभिन्न प्रकाशस्वरूप से व्याप्त, यह चिदात्मा, अपने अभीष्ट विश्वनाट्यक्रीडा में अपने विशुद्ध आनन्द-स्वरूप का चमत्कार देखता है। चिदात्मतादात्म्य से शिवयोगी भी इसी आनन्दचमत्कार को स्वविभूतिरूप में अनुभव करता है। "भूतसंधान-भूतपृथक्त्व-विश्वसंघट्टाः" इस सूत्र का यही निर्गलित अर्थ है ॥ २१ ॥

अब ये शक्तियाँ किस प्रकार सम्पूर्ण जगत् का कारण हैं? और आत्मा का इन सबपर प्रभुत्व कैसे है? इस पर अनुग्रहमूर्ति महादेव कहते हैं:—

शुद्ध विद्योदयाच्चक्रेशत्वसिद्धिः ॥ २२ ॥

विश्वात्मत्त्व की वाञ्छा से जब यह शिवस्वरूपयोगी निजशक्ति का अनुसंधान करता है, उस समय "मैं ही सब कुछ हूँ" इस प्रकार विश्वात्मक शुद्ध विद्या का उदय होता है, उससे 'स्वशक्तिचक्रेशत्व' रूप माहेश्वर्यपद की सिद्धि होती है।

परमशिव विश्वमय, विश्वोत्तीर्ण, परमस्वतन्त्र हैं, तद्भावापन्न योगी में 'मैं सर्वरूप हूँ' इस प्रकार का बोधरूप शुद्धविद्यात्मक परमस्वातन्त्र्य का उदय होता है। इस शुद्धविद्या के कारण योगी में अणिमादि अष्टैश्वर्यरूपसिद्धियाँ स्वतः प्रकट होती हैं, यही चक्रेशत्वसिद्धि है ॥ २२ ॥

इस प्रकार के योगी को मन्त्रवीर्यसंवित् किस प्रकार से होती है? इसपरमन्त्रवीर्यस्वरूप का प्रतिपादक यह अगला माहेश्वर सूत्र है। जैसेः—

महाह्रदानुसंधानान्मन्त्रवीर्यानुभवः ॥२३॥

परासंविद् ही स्वच्छ होने से, अनावृत होने से, गम्भीरत्वादिधर्मयुक्त होने से 'महाह्रद' कही गई है। जैसेः—

"चिदात्मैव महेशानो, निराचारो महाह्लदः ।
विश्वं निमज्य तत्रैव, विमुक्तश्च विमोचकः ॥"

उस महाह्लद के अनुसंधान से–निरन्तरतादात्म्यविमर्शन से मन्त्रों की वीर्यभूतपूर्णाहन्ता का अनुभव स्वात्मरूप से होता है।

परमशुद्ध, शक्तिविग्रह, सृष्टिस्वभावचिदात्मा ही विश्वोद्भव में मूल आधार है। वही देश, काल, वस्तु की कल्पना से हीन (अवच्छेदरहित) महाह्लद के समान होने से महाह्लद कहा जाता है। इसी को आत्मा का अकृत्रिम बल भी कहते हैं।

इसीआनन्द-चिद् (शक्ति-शक्तिमद्) रूप (अरणी) से (स्वरस-साररूप) अनन्तशक्तियाँ विकसिति होती हैं। इस मूल चिदात्मा एवं उसकी परावाग्-रूपाशक्ति (जिस परावाग् में अनन्तवाच्य-वाचकरूप विश्वनिहित है) का अनुसंधान करने से साधकयोगी महामन्त्रस्वरूप हो जाता है। एवं महामन्त्रशक्ति का अनुभव प्राप्त करके वह जो कुछ कहता, करता है, वह सब सफल होता है।

यह श्रीमत् परमहंस स्वामी अभयानन्द सरस्वती जी महाराज कृत
शिवसूत्र-हिन्दी-व्याख्या में सामान्य चित्प्रकाशनिरूपणनामक
प्रथम-प्रकाश पूर्ण हुआ

अथ सहजविद्योदयाख्यः द्वितीयः प्रकाशः

उत्तम अधिकारी के लिये प्रथमप्रकाश में चित्प्रकाशनिरूपणरूप शाम्भवोपाय का कथन किया गया । मन्दशक्तिपातवाले साधकों को मन्त्रवीर्य प्राप्त करने के लिये विकल्पों का संस्कारआवश्यक है । जिससे परस्फुरत्ता के संवेदन से भेदाभास मिट जाता है और सहजविद्या का उदय होता है । तदर्थ मन्त्रवीर्य विवेचनरूप सहजविद्योदयनामक द्वितीय-प्रकाश का आरम्भ किया जा रहा है ।

पूर्वोक्त क्रम से आत्मा की सर्वज्ञानक्रियावत्तारूपी स्वतन्त्रता जो शिवता है; उसका उपपादन किया गया । वहाँ मन्त्रबीर्य जिस प्रकार है, वह भी कहा गया, क्योंकि 'महाह्लदानुसंधान', जो स्वस्वरूप-विमर्श है, उसी को मान्त्रवीर्य कहा गया । अब कहते हैं वह कौन मन्त्र है ? जिसका सभी मन्त्रों में अभिन्नवीर्य है, इसपर भगवान् अज कहते हैं–

चित्तं मन्त्रः ॥ १ ॥

पहले प्रकरण में "संविद्रूप महाह्लद के निभालन से मन्त्रवीर्य पूर्णाहन्ता का अनुभव होता है" ऐसा कहा गया । यह अनुभव प्रकाश-विमर्श के स्वरूप में महाबुद्धिधनों को महत्सौभाग्य से ही सुलभ होता है । अब मन्त्र का स्वरूप और वीर्य का स्वरूप जो अभी भी वक्तव्य है । इसके लिये 'चित्तं मन्त्रः' इस सूत्र की रचना अजन्मा भगवान् ने की । जैसे कहा है:–

"चित्तमेव शिवोज्ञेयः प्रमाता निरुपाधिकः ।
सर्वज्ञतादिगुणवान् दिक्कालकलनोज्झितः ॥
स्वात्मानुभवधर्मित्त्वात् स मन्त्र इतिगीयते ॥"

अर्थात्–चेत्यरूपी उपाधि से रहित प्रमाताचित्त को ही 'मन्त्र' कहा गया है । वह सर्वज्ञता, सर्वकर्तृत्वादिवैभव सेयुक्त तथा देशकाल कलना से रहित शिवरूप ही है । स्वात्मानुभवरूप होने से, 'मनन' से अभ्यास से- 'त्राण' करता है, अतः 'मन्त्र' कहा गया है । 'मननात्त्रायते' इति मन्त्रः अथवा–मन्त्र-देवता के अनुसंधान में तत्पर, तत्समरसीभाव को प्राप्त साधक का चित्त ही 'मन्त्र' है ॥ १ ॥

इस प्रकार का मन्त्र योगियों को किस प्रकार सिद्ध होता है ? इसी बात को अनाथनाथमहादेव कहते हैं:—

प्रयत्नः साधकः ॥ २ ॥

अकृत्रिम—सहज जो प्रयत्न है, वही साधक है। मन्त्रशक्तिनिभालन करनेवाले के लिये यही मन्त्र-देवता से तादात्म्यप्राप्ति का हेतु है।

बार-बार बाह्यवृत्तियों के उपसंहार से जब चित्त स्थिर हो जाय और ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूप भेदज्ञान का भी विलय हो जाय, तब पूर्वोक्त (निरुपाधिक, निरवच्छिन्न, सर्वशक्तिसम्पन्न स्वात्मरूपशिवतादाम्यापन्न चित्तस्वरूप) मन्त्रस्वरूप आत्मा ही ध्येय रहता है, तदाकार तादात्म्यभाव की निरन्तरता ही मन्त्रसिद्धि का उत्तम साधक है ॥ २ ॥

मन्त्रका वास्तविक रहस्य क्या है ? इसपर भगवान् शंकर कहते हैं—

विद्या-शरीर सत्तामन्त्ररहस्यम् ॥ ३ ॥

विद्याशरीर-अर्थात् शब्दराशि, जो वाच्य से भिन्न वाचकरूप से प्रतीयमान वर्णात्मक 'मन्त्र' है, उसकी सत्ता-सद्रूपता, अर्थात् अशेष विश्वाभास (वाच्य) से अभिन्न जो पूर्णाहंरूप से स्फुरत्ता है वही मन्त्रों का रहस्य है अर्थात् शुद्ध क्रमादिरहित जो परावाणी है, (विन्दुस्वरूपिणी) वही चिदात्मा की शक्ति है, उसमें सर्वशक्ति-चिन्मात्रता के आवेश से एका-एक जो उन्मेष—पश्यन्ती-मध्यमा के क्रमसे वैखरी रूपमें प्राकट्य एवं वाच्यतया तत्संबद्ध विश्वरूपता है, उनकी जो प्रकाशमानता है, वह अन्यथा उपपन्न नहीं हो सकती। अतः प्रकाशस्वरूपचिदात्मा ही सर्वानुगत सिद्ध है। वही अखिल वाच्य-वाचक-विश्वरूप है—और 'वह मैं ही हूँ' यही 'पूर्णाहन्ता' रूप जो स्फुरत्ता है, यही 'विद्याशरीर-सत्ता' है। साधक के लिये उसकी अनुभूति ही 'मन्त्ररहस्य' है और साधक की यही 'मान्त्री-शरीर-सत्ता' है ॥ ३ ॥

पूर्व में 'मान्त्रशरीर का उदय ही मन्त्र का रहस्य है' यह कहा, यही परमोदय है। अतः साधकों के लिये वाञ्छनीय है, यह मन्त्र-संबन्धी 'परमोदय-सिद्धि' किस प्रकार होती है? इसी विषय पर शिवजी कहते हैं-

गर्भेचित्त-विकासो विशिष्टोऽविद्यास्वप्नः* ॥४॥

प्रथमप्रकाश के २३वें सूत्र में जिसे 'महाह्लद कहा गया है, वही 'अर्थ' यहाँ गर्भशब्द से विवक्षित है। अतः प्रकाशस्वरूपशक्तिमान्शिव, और आनन्दमयीशक्ति के संघट्ट से आविर्भूत, चिदानन्दसारसर्वस्व स्वसंवेद्य जो 'अहमेवसर्वम्' इत्याकारक पूर्णाहन्ता की अविकल्प अनुभव-धारा है; उसी के गर्भ में तद्रूपतापन्न जो चित्त है, उसका प्राकृत स्वभाव नष्ट हो जाने से प्रकृति के गुणों के अधीन होने वाली जाग्रदादि अवस्थायें भी सम्यक् समाप्त हो जाती हैं, इस प्रकार विशुद्ध चित्तका तुर्य एवं तुर्यातीत अत्युन्नत परपदरूप शिवत्त्व में आविष्ट होकर तदारूढ़ होना ही चित्तका विशिष्ट विकास है। यही मान्त्रउदय अथवा साधक के परमोदय का उपाय है। उस पूर्णाहन्ता के उदय होने पर, पृथिवी आदि तत्त्वजालों से अनन्तविस्तार को प्राप्त अविद्या, 'पूर्णअहं' का ग्रास बन जाती है। अतः उसका स्वप्न- विलोप हो जाता है। इस उपाय से मन्त्रोदयस्वरूपा विद्या की सिद्धि प्राप्त हो जाने पर, इसी शक्ति से साधक के सभी मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि यह 'विद्या' ही 'सर्वमन्त्रमुद्रा-स्वरूपिणी' है। ॥ ४ ॥

---

*इस सूत्र का पाठान्तर भी है, यथा—

"गर्भेचित्त विकासोऽविशिष्टविद्या स्वप्नः"

गर्भ में अर्थात् मन्त्रसिद्धि के प्रपञ्च में जो चित्तका विकास है—चित्त की प्रसन्नता है, अर्थात् तावन्मात्र में संतोष है, यही अविशिष्ट विद्या अर्थात् सर्वजनसाधारणी-विद्या है, किञ्चिज्ज्ञत्त्वरूपा अशुद्धविद्या है, यह स्वप्न है, भेदनिष्ठविचित्रविकल्पात्मक भ्रम है।

मन्त्रसिद्धि में ही जिसका चित्त संतुष्ट हो गया है, उसे बहुत बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त होने पर भी अविद्याजनित स्वाप्निकपदार्थ ही प्राप्त होते हैं, वस्तुतः ये पदार्थ स्व-स्वरूप के उल्लास में बाधक ही हैं। इसीलिये

निराश्रित शिव से लेकर धरणीपर्यन्त जो सिद्धिजाल का कौतुक है। इसी में जिनका चित्ताहै, वे तीन प्रकार के हैं-अशुद्ध, शुद्धाशुद्ध, और शुद्ध। प्रकृति से लेकर धरणीपर्यन्त अशुद्ध तत्व हैं, अशुद्ध सभी तत्व स्वप्न हैं। माया से लेकर पुरुषपर्यन्त शुद्धाशुद्ध तत्व हैं, प्रथम प्राकृत है, तो द्वितीय मायिक है। निराश्रित शिव से लेकर शुद्ध विद्या तक शुद्धतत्त्व हैं। माया से नीचे भेद गर्भ है, और तदुत्तीर्ण पद शुद्ध पद है, जिसमें 'किञ्चित्' का कोई प्रश्न ही नहीं। शुद्ध पद की शिवावस्था में स्वाभाविक सहज अकृत्रिम जिस आत्मबल की अभिव्यक्ति विलक्षणमुद्रा के रूप में होती है, इसे 'मुद्रावीर्य' कहते हैं—इसी विषय पर भगवान् शंकर कहते हैं:—

विद्यासमुत्थाने स्वाभाविके खेचरीशिवावस्था-५

'पराद्वय-प्रथा' रूप शुद्ध-विद्या का उदय जब स्वाभाविक रूप में हो

पतञ्जलिमुनि ने कहाहै— "ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः" समाधि में जो स्थित है, उसकी जब उत्थान दशा होती है, तो जो सिद्धियाँ उदय होती हैं, ये सभी स्वप्निल, विकल्परूप अविद्या के ही स्वभाववाली होने से पूर्णानन्द के अनुभव में बाधक ही हैं।

जब वेद्य, याने चेत्य को छोड़ देता है, तब यह चित्त ही मन्त्र हो जाता है। अब चिद्‌रूप यह 'मन्त्र', सकल भेद को निगल जाता है। जब भेद का गन्ध ही नहीं रह जाता, तब उसके लिये सिद्धिजाल का क्या प्रयोजन शेष बचता है? अतः स्वप्न-सदृश सिद्धिजालों की वाञ्छा में लगा हुआ चित्त अद्वैत परमानन्द का आस्वादन कैसे कर सकता है?

यहाँ—"गर्भेचित्त विकासो विशिष्टोऽविद्या स्वप्नः" इस पाठ में साधक की अभ्रान्त विशुद्ध-स्थिति का वर्णन है, और "गर्भेचित्त विकासोऽविष्टि-विद्यास्वप्नः" इस पाठ में उसके विपरीत अशुद्ध एवं भ्रान्त स्थिति का वर्णन है। अतः तदनुसार ही व्याख्या की गई है। परन्तु अगले सूत्र (विद्यासमुत्थाने स्वाभाविकेखेचरीशिवावस्था) के स्वारस्य से प्रथम पाठ ही उचित प्रतीत होता है।

जाता है, तब शिवावस्था को व्यक्त करनेवाली अथवा शिवावस्था के आवेश से खेचरीमुद्रा अभिव्यक्त होती है। खे–बोधगगने चरति इति 'खेचरी' चिद्गगन में विचरण करने से 'खेचरी' कही गई। शिवतादाम्याऽनुभवरूप व्योम में उदित होने से इसे 'शिवावस्था' भी कहते हैं।

शुद्ध, निराश्रित, शिवस्वरूप के अभिव्यक्त होने से स्वप्रकाशरूपा शुद्ध-विद्या का उदय होता है, इस दशा में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति सब तुरीयरूप निजबोध का ही वैभव प्रत्यभिज्ञात होता है। यहाँ गर्भ में शयन का प्रश्न ही नहीं उठता, शिवत्वलाभ में अशिवदशा नहीं रह जाती। यहाँ 'किमिच्छन् कस्यकामाय' इति ब्रह्मवादिवत् नाकाङ्क्षापेक्षा। जिसके द्वारा योगी परचिदाकाश में विचरता है, उसे 'खेचरी' मुद्रा कहते हैं, वह साक्षात् शिवावस्था ही है। चिद्विलास में कहा गया है—

"खे निरस्त निखिलागमक्रिया या चनिश्चरति शाश्वतोदया।
सा शिवत्व-समवाप्तिकारिणी, खेचरी भवति खेदहारिणी॥
अन्यत्रापि–'मनः स्थिरंयत्र विनावलम्बनं, वायुः स्थिरोयत्र विनावरोधनम्।
दृष्टिः स्थिरायत्र विनावलोकनं, स्यात्सैवमुद्रा विमला च खेचरी॥"

इसी को 'भैरवी' मुद्रा तथा 'शाम्भवी' मुद्रा भी कहते हैं।

यहाँ मुद्रा-मन्त्र का जो वीर्य है, वह मायीय समस्त क्षोभ के प्रशान्त होने और चिदात्मक स्वस्वरूप के उन्मज्जन होने से उदित सर्वसाम्य अवस्था है। केवल बाह्यार्थ ज्ञान में कार्य के भेद से पृथक्ता प्रतीत होती है। भाव यह है कि स्वस्वरूप को ज्यों का त्यों परमशिवत्त्व का लाभ करा के, जो शिवस्वरूप-अनुसंधाता के मोद में प्रमेयीभूत होकर 'महामोद' मुद्रा के रूप में प्रकट होती है, इसी को शुद्ध विद्या कहते हैं। इसके समुत्थान होने पर– अर्थात् उदय होने पर विद्या ही स्वाभाविक सहज अकृत्रिम आत्मबल के रूप का अनुभव कराती है। ऐसा होने पर साधक में मुद्रा का जो वीर्य है, वह विजृम्भित होता है, इसी को खेचरी शिवावस्था कहते हैं। उपनिषद् में इसी को—

"अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा सा शाम्भवीमुद्रा योगिनामपि दुर्लभा॥"

कहा गया है । इसी को और प्रकार से भी कहा है, यथाः—

'एषा सा खेचरी मुद्रा देवानामपि दुर्लभा'।

खेचरी का अर्थ यहाँ भूताकाशचारी नहीं। अपितु बोधरूपी जो चिद्गगन है, उसमें चरने का नाम 'खेचरी' है। इसी को शिवावस्था कहते हैं, इसीलिये यह खेचरी-मुद्रा शिव-व्योम में उदय होती है।

"खे स्वचिद्गगनाभोगे, चरणात् खेचरीति सा।
ध्येयानुकारतादात्म्य–प्रतिपत्युदयात्मिका ॥
अतएव शिवावस्था स्वरूपावेश–शालिनी ॥"

॥ ५ ॥

मन्त्र-मुद्रा का वीर्य जो खेचरी शिवावस्था है, उसकी प्राप्ति का मुख्य उपाय क्या है ? इस पर परमसद्गुरुकृपाकुलमहादेव कहते हैं—

"गुरुरुपायः" ॥ ६ ॥

मन्त्र-मुद्रा के बल-लाभ में अनुग्रहमूर्ति पारमेश्वरीशक्ति-गुरु ही उपाय हैं। वही साध्य जो शिवपद है, उसको प्राप्त करा देते हैं। उसी अनुग्रहशक्ति के द्वारा, परमशिव जो अनुत्तरपद है, जिसकी अनुभूति उन्मनावस्था में होती है, अतएव जिसे औन्मनसपद भी कहते हैं, उस पद में गुरुभक्त विश्रान्ति के लाभ का भागी होता है।

चैत्य को छोड़ कर योगी का चित्त जब मन्त्र का रूप धारण करता है, ('हंसः सोऽहम्' यह मन्त्र का स्वरूप है,) तब पूर्णाहन्तारूपविश्वातीत चिन्मयदशा होती है । तद्भूमिकारूढ़ विस्मयवान् महायोगी को, अपने सन्मात्र, प्रकाशमात्र परिपूर्ण स्वरूप का साक्षात्कार करके, जिस महामोद की अवस्था की प्राप्ति होती है, उसी को 'मन्त्र-वीर्य' कहते हैं। इस पूर्णाहन्ता 'रूपीमन्त्र' को तथा इस परमोदय दशा (मुद्रा) को अनुग्रह-शक्ति, श्रीगुरू द्वारा ही प्रकट करती है। इसलिये "गुरुरुपायः" कहा गया है। परमात्मा की अनुग्राहिका शक्ति जब किसी भाग्यवान् अधिकारी पर प्रगट होती है तो वह प्रथम क्या करती है ? —

"उत्पाताद्रक्षितो जन्तुः क्रियते भवनिस्पृहः" ।

भवभयरूपी जो उत्पात है, उससे उसकी रक्षा के लिये प्रथम उस जीव के अन्तःकरण में; तनु, करण, भोग, भुवनभूमि रूप जो भव है, उसमें निस्पृहता उदय करके, उस निस्पृहता के द्वारा उसको प्रेरित करके "तदधिष्ठित देहोऽप्यौनीयतेसद्गुरुं प्रति" सद्गुरु के पास मन्त्रमुद्रा के लाभ के लिये पहुँचा देती है। क्योंकि:—

"वक्तृत्वात्तात्विकार्थानामुपेय-पदलम्भनात् ।
गुरुरौन्मनसे धाम्नि विश्रान्ति-पथदर्शकः ॥"

तात्विक अर्थों का यथार्थवक्ता मन्त्र-मुद्रा-वीर्यलब्ध-सद्गुरु ही उसका लाभकरा सकता है। उपेय जो मन्त्र-मुद्रा तत्त्व हैं। उसका लाभ करा देता है। कोई भी ज्ञान बिना शब्द के सुने नहीं होता। सभी ज्ञान शब्दानुबिद्ध होते हैं। अतः शब्द द्वारा गुरु ही ज्ञान कराता है ॥ ६ ॥

इस प्रकार 'पथप्रदर्शक गुरु का अनुसरण करके उन्हें प्रसन्न (अनुग्रहप्रवण) करना चाहिये। गुरु के प्रसन्न हो जाने पर फिर क्या लाभ होता है ? गुरु उपाय किस प्रकार है ? इसपर उमानाथ कहते हैं:—

मातृकाचक्र संबोधः ॥ ७ ॥

स्वतन्त्र शिव की स्वप्रकाश क्रियाशक्ति ही 'मातृका' है, उसका, उससे अभिन्न वाच्यवाचकात्मक संपूर्ण विश्व ही विस्फार है, यही मातृकाचक्र है, गुरु-कृपा से ही उसका सम्यक् परिज्ञान होता है, याने "शिवस्वरूप स्वात्मशक्ति रूप ही सभी वाच्य-वाचक हैं" इस प्रकार का संबोध साधक को हो जाता है। उस दशा में वह जिस किसी इच्छा से संबद्ध-असंबद्ध-भाषा अथवा संस्कृत जो कुछ बोल जाता है, उसमें मान्त्रवीर्य उतर आता है, अतः वह सिद्धमन्त्र की भाँति बिना रुकावट तत्तत्कार्य संपन्न करने में समर्थ होता है।

विश्वातीत अनुत्तरमूर्ति चिद्घनप्रकाशस्वरूप एवम् अनन्तशक्तियों के अभिन्न अधिष्ठान जो परमशिव हैं, वे जब विश्वसृष्टि की इच्छा करते

हैं, तब अपने विश्वात्मक स्वरूप का प्रत्यवमर्श "एकोऽहं बहुस्याम, प्रजायेय" करते हैं। यह प्रत्यवमर्श ही प्रथम स्पन्दात्मिका क्रियाशक्ति है। जिसे 'मातृका' कहते हैं। वह क्रियाशक्ति ही अम्बा, ज्येष्ठा, वामा, और रौद्री इन चार शक्तियों के रूप में ध्रुवा, इच्छा, उन्मेष, निमेषादि कलाओं के प्रसार और विश्रान्ति (सृष्टि और संहार) में बीजभूत शुद्धाध्वा तथा उससे अभिन्न ज्ञान स्वरूप 'विन्दु' को व्यक्त करके, 'जिस की सृष्टि भावी है' उस आधारभूमि (मायादि पृथिवीपर्यन्त) के विभिन्न रूपों में सर्जनेच्छा रूप विसर्ग.. को भी प्रकट करके..' त्रिकोणजन्य योनि स्वरूप जो शाक्तोल्लास है, तन्मय अशुद्ध अध्वा का विस्तार करती है। इस सृष्टिप्रसङ्ग में सभी शक्तियाँ इच्छाशक्ति के अधीन हैं अतएव उसके द्वारा क्रोडीकृत हैं। वही इच्छाशक्ति जब प्राणनात्मक अधोभूमि में उतरती है, तब अनाहतध्वनि रूप विवर्तभाव को प्राप्त होती हुई पद-वाक्यादिगर्भ 'प्राणक्रिया' रूप में परिणत होती है। इसी को कहा गया है कि "प्राक्संवित् प्राणेपरिणता" यही 'प्राणक्रिया' विन्दु स्वरूपिणी 'परावाङ्मयीशक्ति' है जो 'पश्यन्ती' आदि विकास-क्रम से वर्ण, पद, वाक्य एवं मन्त्रादि स्वरूप को धारण करती है, इसलिये मातृका ही इस वाच्य-वाचकात्मक विश्व का रूप धारण करती है, वही मन्त्र स्वरूपा भी है, उसका संबोध हो जाने पर उक्तरीति से उसकी वाणी में मन्त्रशक्ति अवतीर्ण होकर प्रतिबन्ध रहित होकर कार्य संपन्न करती है। यही सब निम्नाङ्कित वार्तिकों में व्यक्त किया गया है।

स्वाभासा मातृका ज्ञेया क्रियाशक्तिः प्रभोः परा।
तस्याः कलासमूहो यस्तच्चक्रमिति कीर्तितम् ॥ १ ॥
तस्य सम्यक् परिज्ञानं यत् संबोधः स इष्यते।
सति तेन विवर्तो यो वाच्य-वाचकलक्षणः ॥ २ ॥
क्रियाशक्त्युदितत्वात्स भिन्नोऽभिन्नः सदामतः।
नित्योदितानस्तमितप्रकाशवपुषः पुरा ॥ ३ ॥
वीर्यौन्मुख्यात्प्रभोरिच्छाशक्तेः समुदयोभवेत् ।
ततः संवेदनस्पर्शौ प्रादुर्भूतौ ततः पुनः ॥ ४ ॥
सर्वार्थप्रतिभासश्च ततोध्वनिरनाहतः ।
पद-वाक्यार्थगर्भः स्यात्ततः प्राणात्मिका क्रिया ॥ ५ ॥

पञ्चाशद्वर्णगर्भावाक् ततः सर्वस्य संभवः ।
मन्त्रादिवस्तुजातस्य मूलमेकं ततः स्मृता ॥ ६ ॥
मातृकैव क्रियाशक्तिः शिवस्येत्थंविजृम्भते ।
मातृकाचक्रसंबोधः एवं जातोयदातदा ।
यद्यद्वक्ति प्रबुद्धः सन् प्रभुर्मन्त्रेन्द्रतामियात् ॥ ७ ॥

इस प्रकार मातृकाचक्र संबोध जब गुरु-कृपा से हो जाता है, तब साधक जो कुछ बोलता है, वह 'महामन्त्र' हो जाता है ॥ ७ ॥

इस प्रकार मन्त्रवीर्य के प्रज्वलित होने पर, उस मान्त्र-महातेज में पुनर्भव का कारण जो यह कार्मशरीर है, वह भस्म हो जाता है इस विषय को अगले सूत्र में भगवान् व्यक्त करते हैं:—

शरीरं हविः ॥ ८ ॥

मायीय, प्रमातृतास्पद कार्ममलनिबन्धन पुनर्जन्मादि का हेतुभूत जो यह स्थूल-सूक्ष्मादि शरीर है। वह मान्त्रतेज से अभिन्न जो नित्य प्रज्वलित ज्ञानाग्नि है, उसका हवि बनकर भस्म हो जाता है ।

अर्थात्—तेजः संपन्न मन्त्रस्वरूप ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर उसमें कर्मों से बना एवं कर्मों का कारण, अतएव पुनर्जन्मादिरूप संसरण का हेतुभूत, जो यह भौतिक शरीर है, वह प्रगलित हो जाता है । तदनन्तर मान्त्र दिव्यदेह साधक को प्राप्त हो जाता है, कार्ममलसहित यह भौतिक देह चिदग्नि में हविर्भूत होकर भस्म हो जाता है । जिससे वह जली हुई रस्सी की भाँति बन्धन का हेतु नहीं रहता । मान्त्रदिव्यदेह संपन्न होने से चिद्विभु-स्वरूप जो साधकरूपी यजमान है, उसका सर्वोत्कृष्ट देह (ज्ञानदेह) यही है, जिससे वह नित्य प्रज्वलित निष्प्रतिबन्ध सर्वाहंभाव (पूर्णाहन्ता) स्वरूप महावीर्य-संपन्न स्वस्वरूपभूत ज्ञानरूपी महाअनल में सर्वदा हविःस्थानीय शरीरादिभावजात का हवन कर रहा है" यहाँ शरीरादि भावजात का जो सदा तदर्पण है, अर्थात् तदभिन्ननिभालन

है, यही इस महायोगी की हवनक्रिया है। अब वह चिन्मात्र स्वरूप हो गया, अतः उसका देह पूर्णरूप ज्ञान ही है। इसी स्वरूप को निम्नाङ्कित श्लोक में व्यक्त किया गया हैः—

"अन्तर्निरन्तरमनिन्धनमेधमाने,
मोहान्धकारपरिपन्थिनि संविदग्नौ।
कस्मिंश्चिदद्भुतविकास मरीचिभूमौ,
विश्वंजुहोमि वसुधादिशिवावसानम्" ॥ ८ ॥

इस प्रकार दिव्यज्ञानदेह में स्थित योगी का अन्न क्या है ? क्योंकि 'अद्यते इति अन्नम्' इसपर गुरुमूर्ति महादेव कहते हैंः—

ज्ञानमन्नम् ॥ ९ ॥

"ज्ञानंःबन्धः" (१-२) इस सूत्र में कहा गया बन्ध का कारण जो भेदज्ञान रूपी अज्ञान है, उसे यह योगी निगलकर तृप्त हो जाता है, अतः वह भेदज्ञान ही अद्यमान होने के कारण इसका अन्न है।

अथवा

परिपूर्णतृप्ति का जनक होने से स्वात्मविश्रान्ति का हेतु जो स्वात्मविमर्शात्मक ज्ञान है, वही इसका अन्न है, क्योंकि वह रसस्वरूप एवं तृप्तिरूप भी है। अतएव उससे उत्कृष्ट अन्न योगी के लिये क्या हो सकता है ?

'ज्ञान' शब्द से यहाँ परावस्था का ज्ञान समझना चाहिये, उस अवस्था में योगी को भीतर बाहर संपूर्ण विश्व स्वात्मचैतन्यविस्फुरणमय अनुभूत होता है, अतः स्वभाव "अहमेवसर्वम्" इस पूर्णाहन्ता से, भीतर बाहर व्याप्त होने के कारण चिद्रूप आत्मा से भिन्न कुछ रहता ही नहीं। उस अवस्था में स्वात्मवैभव के विस्फार का परिशीलन करता हुआ, वह योगी अत्यन्तनिराकाङ्क्ष पूर्णतृप्त रहता है। अभ्यासवश वह इस ज्ञान-देह में ही निरन्तर निवास करता है, अतएव यह दशा ही उसकी स्वाभाविक एवं सहज दशा है। व्युत्थान में कदाचित् वह जब

व्यवहारिक कार्यों को करता-सा दिखाई देता है, तब भी अपने स्वभाव, याने पूर्णता की स्थिति से प्रच्युत नहीं होता, अपितु प्रबुद्ध कुशल नट की भाँति तत्तज्जात्यादि-विशिष्टशरीरभूमिका में स्वयं क्रीडन द्वारा स्वयं को चमत्कृत करताहुआ नाटकीय पात्र जैसा होकर, विभिन्न अभिनयों का निर्वहण करता है। उस व्यवहारिक दशा में भी वह विषयेन्द्रियों द्वारा तत्तत् सभी विषयों को परामृतैकरसमय रूप में ही ग्रहण करके स्वात्मा में समर्पित करता है, अर्थात् स्वात्माभिन्न रूप में ही ग्रहण करता है। विषयासक्ति से स्वरूपस्फूर्ति को भूलकर पशु की भाँति अधरावस्था को नहीं प्राप्त होता। उसका सारा व्यवहार अभिनयमात्र ही रहता है, उससे वह किञ्चिन्मात्र भी प्रभावित नहीं होता है ॥ ९ ॥

इस प्रकार अविद्या के संहार हो जाने पर, फिर क्या होता है ? इस पर भगवान् शंकर का यह विमल कथन है:—

विद्यासंहारे तदुत्थस्वप्नदर्शनम् ॥ १० ॥

'विद्या' शब्द का तात्पर्य यहाँ अशुद्धविद्या, अर्थात् अज्ञान है। जिससे संसार सत्य भासता है। उसका, जब ज्ञानोदय होने पर संहार हो जाता है। तब अज्ञान दशा में आत्मा से भिन्न सत्यवत् प्रतीत होने वाला जगत्, जागने पर स्वप्न की भाँति आत्मविस्फुरण मात्र ही हो जाता है।

संसार को वेदन कराने वाली अविशिष्ट (साधारण) विद्या ही यहाँ 'विद्या' शब्द से कही गई है। स्वप्रकाश सहजविद्या के उदय होने पर उसका (अविशिष्ट विद्या अर्थात् अविद्या का) संहार हो ही जाता है। अविद्या का संहार हो जाने पर उससे उत्पन्न जो विमोहकभावसमूह है, वह स्वप्नसदृश हो जाता है। जिस प्रकार स्वप्न में निरुपादान ही सृष्टि-समूह भासता है, उसी प्रकार योगी को साराविश्व जाग्रत् में भी निरुपादान ही भासता है।

भाव यह कि निरन्तर स्व-स्वरूप के निभालन से प्रपूर्णता की स्थिति प्राप्तहो जाने पर किञ्चिज्ज्ञत्त्वरूपा अविशिष्टविद्याका विलय हो जाता है। उससे उत्पन्न स्थूल-सूक्ष्म समग्रजगत् स्वप्नवत् स्वरूपशून्य-अर्थ निर्भासन-मात्र अतएव विकल्पमय हो जाता है। मनोविलासमात्र स्वाप्न जगत् की भाँति ही योगी स्वस्वातन्त्र्यशक्ति से उपादानादि सामग्री के बिना ही पर्वत, नगर, उपवन, नदी आदि, वैचित्र्यपूर्ण जगत् को संवेदन (ज्ञान) रूपी स्वच्छतम दर्पण में प्रतिविम्बित सा जब देखता है, तब उसे चित्सत्ता से अभिन्न अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति का विलासमात्र स्वस्वरूप के अन्तर्गत ही देखता है। इस प्रकार वह योगी निष्प्रतिबन्ध शिववत् नित्यसर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्वादि शक्तियों से संपन्न होकर, सहज विद्योदय-पदारूढ होकर यथेच्छ विहार करता है। अर्थात् यथेष्ट अपूर्वसृष्टि का निर्माण वह संकल्पमात्र से करता है, जैसे जैगीषव्यादि योगियों द्वारा की गई निरुपादान सृष्टि-रचना देखी जाती है।

※ इति सहज विद्योदयाख्यो द्वितीयः प्रकाशः ※ ॥ १० ॥

❀ अथ विभूतिस्पन्दाख्यः तृतीयः प्रकाशः ❀

स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा और मन्त्रवीर्यरूप सहजविद्या के उदय हो जाने पर, शिवयोगी में जो विभूतियाँ प्रकट होती हैं, उनका वर्णन अब किया जा रहा है।

पूर्वापर के विमर्श से इस योगी का जो बोधवैभव विजृम्भित होता है, उसके विकास से वह स्वयं अविच्छिन्नपरानन्दस्वरूप हो जाता है, जिससे उसकी सहज अखण्डित स्वातन्त्र्यशक्ति ही स्फुट-विभूति के रूप में प्रगट होती है, इसी विषय का प्रतिपादन करने के लिये महेश्वरशिव ने इस तृतीय प्रकरण का उपदेश किया है।

सर्वप्रथम योगी के चित्त के स्वरूप पर पुर्नविचारार्थ कृपानाथ शिवजी कहते हैं:—

आत्मा चित्तम् ॥ १ ॥

पूर्वप्रकरण में 'चित्तंमन्त्रः' इस सूत्र में चित्त को 'मन्त्र' रूप बताया। अब यहाँ कह रहे हैं कि चित्त आत्मरूप ही है। अतएव आत्मा ही मन्त्र है।

सभी शास्त्रों में मन का पर्याय चित्त कहा गया है, अन्तरिन्द्रिय होने के कारण वही जब संकल्प रूप में परिणत होता है, तब उसी को 'मन्त्र' कहा जाता है। परन्तु बहिर्मुख साधक का मन से अभिन्न संकल्पस्वरूप 'मन्त्र' संकुचित ही होता है, वह मन को अल्पशक्ति-रूप ही देखता है, अतः उसका मन्त्र भी 'जो मनःस्वरूप ही है' अल्पशक्तिक होने के कारण संङ्कल्पानुविधायी नहीं होता। अतः उसे संकल्पसिद्धि नहीं प्राप्त होती। अन्तर्मुखसाधक का मन, स्वात्ममनन करते-करते आत्मस्वरूप हो जाता है। अतः उसका मन सर्वज्ञत्व-सर्वकर्तृत्व-स्वातन्त्र्यादिशक्ति-संपन्न आत्मरूप होकर 'मन्त्र' बनता है, अतः अन्तर्मुखसाधक का मन्त्र स्वात्मरूप शिव के सभी असाधारण गुणों से संपन्न होकर व्यवहार दशा में भी उसके सभी संकल्पों का अनुविधायक होता है।

तात्पर्य यह है कि मन का बहिर्मुखदशा में जो परामर्श है, उसी

को संकल्प कहते हैं, परन्तु अन्तर्मुखदशा में स्वात्मस्वरूप का मनन करने के कारण उसी को 'मन्त्र' कहा गया है। अन्तर्मुखदशा में विक्षेप का अभाव होने से संकुचितचित्तता का परित्याग करके अपने सहज चिदात्म (बोधात्मशिव) स्वभाव को प्राप्त हो जाता है। उस स्वभाव का दृढ़ अभ्यास हो जाने पर उसका ज्ञान और उसकी क्रियायें इन्द्रिय-व्यापार के अधीन नहीं होतीं, वह निरावरण ज्ञानशक्ति और निर्नियन्त्रण क्रियाशक्ति से संपन्न हो जाता है, और उनके बलावेश से वह स्वेच्छानुसार शिव के सदृश प्राकृत जो पृथिवी, जल, अग्नि आदि सामग्री है, उनकी अपेक्षा के बिना ही संकल्पित वस्तु की सृष्टि (जिसे बाह्यजगत् में सभी लोग देखसकें) करने में समर्थ होता है। जो अयोगी (बहिर्मुख) है, उसके संकल्प आदि अपने मन में ही देखनेयोग्य विकल्परूप ही होते हैं, वे बाहर वस्तुरूप में प्रगट नहीं किये जा सकते, अतएव वे अन्य दृश्य न होकर मन में ही रह जाते हैं, और जो युक्त है, उसके तो मन्त्र-आदि भी स्वात्मशिव के असामान्यगुणों से युक्त होते हैं, अतएव वे अत्यन्त विलक्षण एवं अत्यन्त दुष्कर भी अर्थसमूह को प्रकाशित (अन्यदृश्यरूप में निर्मित) करने में समर्थ होते हैं ॥ १ ॥

अयुक्त की संकल्प-सिद्धि क्यों नहीं होती ? इस पर शिव जी कहते हैं:—

ज्ञानंबन्धः ॥ २ ॥

रागादियुक्त जो विषयासंगी-ज्ञान है, वही स्वरूपावरक होने के कारण, चित्त के स्वरूपप्रकाश के पूर्णबल प्राप्ति में बाधक होता है। अतएव अयुक्त की संकल्पसिद्धि नहीं होती। योगी के चित्त में भीतर के एवं बाहर के किसी भी विषय की आसक्ति नहीं होती। अतः वह अन्तर्मुख होकर स्वरूपचिन्तन के अभ्यास से पाटव (बल) प्राप्त करके मननात्मक आत्मस्वरूप चित्र का दृष्टा हो जाता है। तब वही मुक्त है अर्थात् रागादि के द्वारा विषयों में व्यासङ्ग से रज, तम, सत्त्व इन तीनों मलों

से विक्षिप्त जो चित्त है, वह वास्तविक आत्मस्वरूप को ग्रहण नहीं करता, इसलिये उसे आत्मबल का लाभ न होने पर आवरणनाश न होने से निरावरण प्रकाशभूमि उपलब्ध नहीं होती, अतः जनसाधारण के अनुभव योग्य संकल्पानुसार वस्तुओं का निर्माण नहीं कर सकता। अतः विषयासक्ति ही यथेच्छ निर्माण में प्रतिबन्ध का मूल है ॥ २ ॥

इस प्रकार के नित्यद्रष्टा के लिये आवरण क्या है ? इस पर विश्वेश्वर कहते हैं:—

कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया ॥ ३ ॥

किंचित्कर्तृत्वादिरूप कला से लेकर क्षितिपर्यन्त-तत्व ही कञ्चुक, पुर्यष्टक और स्थूल शरीररूप से स्थित हैं। जिसके कारण उन्हीं में आत्मबुद्धि हो जाती है, और सदोदित स्वप्रकाश चेतनद्रष्टा-स्वरूप आत्माका भान नहीं होता, वह अविवेक ही माया है, वही आवरण है।

यह माया ही कला आदि तत्त्वजालों से त्रिविध शरीर का निर्माण करके जीवों में "यह देहादि रूप ही मैं हूँ" इस प्रकार का (परिमित प्रमातृभाव का) अभिमान पैदा करके उनके सदोदित-स्वप्रकाश-द्रष्टृ-स्वरूप को आवृत कर देती है। अतएव माया-मोहित होकर प्रमादी जीव बन्धन में रहता है। उसे स्वातन्त्र्यशक्ति नहीं प्राप्त होती। जो योगी विवेक का दृढ़ अभ्यास करके 'माया' के ऊपर पहुंच कर शुद्ध-विद्या का समाश्रयण प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें आवरण रहित स्वात्मा की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है, और मायिकप्रपञ्च का उनके स्वरूप में ही लय हो जाने से उनका बन्धन सदाके लिये निवृत्त हो जाता है इस प्रकार आत्मबल प्राप्त करके वे पूर्वोक्त मन्त्रादि के अधिकारी हो जाते हैं।

अब आगे इसी सन्दर्भ में कलादितत्त्वों का विशेष विवरण स्पष्ट किया जा रहा है। कला से लेकर क्षितिपर्यन्त जो तत्वसमूह है। इससे यह सारा जगत् 'तत'=व्याप्त, अर्थात् परिपूर्ण है, इसी से इन्हें 'तत्व' कहा जाता है।

किञ्चिन्मात्र कर्तृत्वसामर्थ्य को 'कला' कहते हैं। इसी प्रकार किञ्चिद् ज्ञान-सामर्थ्य को 'विद्या-तत्त्व' कहते हैं (पूर्णता न होने से यह अशुद्ध विद्या है)। 'यही हमारे लिये इष्टतम है', यह 'राग' है। यह मुख्य पाश (बन्धन) है। 'इस समय हमको यह प्राप्त हो' यह 'काल' है, यह भी असीम आत्मा को सीमित करता है। कर्मफल का नियतपन ही 'नियति' है। अन्तस्तत्त्व में सुख-दुःख अज्ञत्व (मोह) सम हों अर्थात् रज, तम और सत्व की साम्यावस्था हो 'तो वही 'प्रधानता' है, अर्थात् तादृश अन्तस्तत्व ही 'प्रधान' याने 'प्रकृति' तत्व है।

सुख, दुःख और मोह ये ही तीन गुण हैं, मनन (निश्चय) करने वाली 'बुद्धि' है, और इन सबका अभिमान करने वाला 'अहंकार' है। इन्द्रियों का प्रयोक्ता 'मन' है। श्रोत्र आदि इन्द्रियों से विशेषित (श्रवण-स्पर्शादि) ज्ञान जिससे होता है वही बुद्धिन्द्रियगण है। ऐसे ही 'वाक्' आदि इन्द्रियों से विशेषित कर्तृत्व=क्रिया जिसमें मानी गई है वही 'कर्मेन्द्रियगण' है। शब्दादि (सूक्ष्म) रूप से अवभासित होने वाला 'तन्मात्रागण' है, तथा भिन्न-मिश्रीकृत-शब्दादि तन्मात्राओं से उद्गत (स्थूल रूप में व्यक्त) पाञ्च-भौतिकगण (आकाशादि क्षितिपर्यन्त) है। इन सब (कलादि क्षितिपर्यन्त) का जो 'अविवेक' है अर्थात् इनसे विविक्त आत्मा को न जानना–यही 'माया'[1] है। क्योंकि वही 'मोह', भ्रम, अविवेक–उत्पन्न करने वाली है, अतः यही नित्यद्रष्टा का आवरण है।

इसीलिये शुद्ध विद्या का संश्रय लेकर विवेकोदय आवश्यक है। इसी प्रयोजन से तत्त्ववेदी महात्मा शुद्धतत्त्वों का निरूपण करते हैं। शिव से शुद्धविद्यापर्यन्त पाँच शुद्धतत्व हैं। जो स्वयं-प्रकाश है, वह 'शिवतत्व' है, उसकी स्वतन्त्र ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति जो हैं यही 'शक्तितत्व' है। सर्वज्ञान और सर्वक्रिया की योग्यता जिसमें है उसको 'सदाशिव' तत्व कहते हैं। सदाशिव तत्वाश्रित देवता को ही 'सादिनीकला' कहते हैं।

१– माया तीन प्रकार की है। (१) मोहिनी, (२) तत्वरूपा, (३) ग्रन्थिरूपा, चौथा एक इसका स्वतन्त्र नाम है–शक्तिरूपा। मुक्तों को माया शक्तिरूपा है। मायागर्भों के लिये किसी को तत्वरूपा, किसी को ग्रन्थिरूपा, किसी को मोहिनीरूपा है। *

वही सभी तत्वों एवं उनके स्वभावों को भासित करती[1] है, अतः 'सदाशिव' ही 'ईश्वर' द्वारा सभी तत्वों को प्रेरित करता है, इसलिये मुख्य प्रेरकत्व सदाशिव में ही है, 'ईश्वरतत्त्व' उसका प्रेर्य है और अन्य तत्वों का प्रेरक है, यही बात इस कारिकार्ध में व्यक्त की गई है–यथा:—

"प्रेर्यत्वमैश्वरं तत्त्वं तद्द्वारा प्रेषणा यतः" ।

यतः सदाशिवतत्त्व ईश्वर द्वारा ही सब तत्वों की प्रेषणा करता है, अतः सदाशिवतत्त्व की अपेक्षा ईश्वरतत्व प्रेर्य है तथा अन्य सभी तत्त्वों का प्रेरक है ।

शिवशास्त्र, शिवगुरु, और शिव-विद्या द्वारा जो 'शिवशुद्धबोध' है, उसी को 'शुद्धविद्या' कहते हैं । इस प्रकार आत्मा में आत्मा की ही इन अवस्थाओं द्वारा तत्त्वों की कल्पना है, वस्तुतः सभी तत्त्व आत्मा की विभिन्न अवस्थायें हैं । अतः आत्मरूप ही हैं । अतः सर्वानुस्यूत होने के कारण प्रकाश एवं तदभिन्न विमर्श ही एकमात्र परमतत्त्व है ।। ३ ।।

इस प्रकार आत्मा के तत्त्वात्मक कलाविस्तार का निरूपण किया गया, अब उनका संकोचादि कैसे होता है ? इसपर सर्वदाता महेश्वर कहते हैं:—

शरीरे संहारः कलानाम् ।। ४ ।।

समष्टि स्थूल, सूक्ष्म, अथवा पर-शरीर में कलाओं का अर्थात् तत्त्वभागों का याने पृथिव्यादि शिवान्त तत्त्वों का स्व-स्वकारण में लय-भावना से संहार का अनुसंधान करने से मूलकारण सर्वाधिष्ठान चिन्मय स्वात्ममात्र शेष रहने पर 'परबोधदेह' का उदय होता है ।

तत्त्वों का जो स्वसामर्थ्य है उसी को कला कहा गया है । उनका अर्थात् तत्त्वों और कलाओं का जो संघात, याने समुदाय है, उसी को

*– यथा–"मेदिनी प्रमुखमाशिवं मतं तत्त्वचक्रमिह चक्रमुत्तमम् ।
स्व-स्वभाव समवायभासिनी, देवताभवति सादिनीकला ।। इति ।
चिद्विलास, १७

'शरीर' कहा गया है, इसी से इसे स-कल भी कहा जाता है। उन आत्म-कलाओं का अपने-अपने कारण स्वरूप-आधार में प्रातिलोम्येन अनुप्रवेश को 'संहार' कहा गया है, इस प्रकार लय करते-करते अन्त में यह प्रक्रिया सर्वाधिष्ठान चिन्मयस्वात्मा में पहुंचकर जब समाप्त हो जाती है, और वही शेष रह जाता है तब 'परबोध-देह' का उदय होता है।

अथवा हठात् उल्लङ्घनवृत्ति से सभी विकल्पों की हानि द्वारा प्राप्त एकाग्रतारूप-बल से निर्विकल्प-संविद्‌रूप-आत्मैश्वर्य की प्राप्ति होती है, इस प्रकार प्रमाता का जो कलाओं के साथ तादात्म्य है, यही स्व-स्वरूप का आवरण है, जो कि उसके अनैश्वर्य का कारण है। कलाओं का उपसंहार ही सिद्धि का अङ्कुर है, जो शिवात्म-भाव में विकसित होता है।

प्रमाता जब कला से लेकर धरणी-पर्यन्त सभी कार्यों को वेद्य-कोटि में–ज्ञेय-कोटि में विद्या के द्वारा जान लेता है, तब पूर्व जो कार्य-करण से बद्ध था, वही कार्य-करण के विवेक से कार्य-करण से मुक्त हुआ, कार्य-करण को अपना वैभव जानकर वही प्रमाता दोनोंके विवेक से गुणों से मुक्त होता है। दोनों से मुक्त होना एक बात है, और दोनों को ऐश्वर्य जानना दूसरी बात है। तो कोई प्रमातागुणों से मुक्त है, और कोई प्रमाता-गुणैश्वर्य वाला है। इस प्रकार गुणों का सुषुप्ति में जब लय हो जाता है, तब उसे प्रकृति-प्रधान कहते हैं। इस प्रकार प्रकृति अर्थात् प्रधान का जब बोध होता है, तब प्रधान से मुक्ति होती है और एक दूसरी दशा में प्रधान ऐश्वर्य होता है एवं क्रम से पुरुषतत्व का जब बोध होता है, तब प्रमाता अपने निजस्वरूप का निभालन करता है। पुरुष प्रकृति से मुक्त तो हुआ, परन्तु पुर्यष्टक के संस्कारों के उस काल में भी रहने से अभी वह ऊपर कहे पञ्चकञ्चुकों से आवृत ही है। उस पुरुष को जब पञ्चकञ्चुकों का बोध होता है, तब वह पञ्चकञ्चुकों से मुक्त होता है। यहाँ भी पञ्चकञ्चुकों से मुक्ति एक दशा है, और पञ्च-कञ्चुक ऐश्वर्यरूप से स्फुरित हो, यह अलग दशा है एवं मायामुक्त, विद्यामुक्त और मायैश्वर्य, विद्यैश्वर्य भिन्न दशायें हैं। इसी प्रकार आगे ईश्वर, सदाशिव, शक्ति, शिव इन तत्वों के बोध से, क्रमशः–तत्व-उल्लङ्घन-

क्रमसे शुद्ध शिवत्व-पर्यन्त तत्तत्त्वों की अभिव्यक्ति से प्राप्त होने वाली मुक्ति और तत्तदैश्वर्य की अवाप्ति यह सब अलग-अलग दशायें हैं ॥ ४ ॥

इस प्रकार तत्व-प्रसर तत्वसंकोचरूप आत्मा में वृत्तिउल्लङ्घन के क्रम से स्वस्वरूप शिवत्वबोध होता है, यह कहा गया, अब भूतसिद्धि के उदय का क्या क्रम है ? इसको भी भूतनाथ कहते हैं:—

नाड़ीसंहारभूतजयभूतकैवल्य-भूतपृथक्त्वानि-५

नाड़ियाँ जो प्राणादिवाहिनीं हैं, उनका सुषुम्ना अथवा चिदाकाश में जो लय है, यही नाड़ीसंहार है। नाड़ियों का उपशम हो जाने पर, तान्त्रिक प्रक्रिया के अनुसार 'कन्द' आदि अधिष्ठानों में 'पृथिवी' आदि भूतों की धारणाओं का नियतकालपर्यन्त नियमित अभ्यास से, पञ्च-भूतों पर अधिकार प्राप्त हो जाता है, इसी को 'भूतजय' कहा गया है। जिससे योगी भौतिक पाषाणादि ठोस पदार्थों के भीतर निष्प्रतिबन्ध गमनागमन एवं विहरणआदि कर सकता है। इसी प्रकार जल-अग्नि आदि अन्य भूत भी इसकी इच्छा के प्रतिबन्धक नहीं होते। 'भूतजयसिद्धि' प्राप्त हो जाने पर भी, जब योगी उस सिद्धि के ऐश्वर्य में आसक्त नहीं होता और स्वरूप चैतन्य का ही अनुसन्धान करता रहता है, तब उसे भूतों से अनुपरक्त-स्वच्छ-चिदानन्द-घन-स्वात्मा में संस्थित रहने की सिद्धि बिना प्रयास के ही अनासक्तिबल से प्राप्त हो जाती है, इसी को यहाँ "भूतकैवल्य" कहा गया है। इस सिद्धि से उसे प्रचुर अथवा अनन्त आत्मबल प्राप्त हो जाता है। वह सारे तत्वों को एवं उनसे उत्पन्न विश्व को स्वात्मविवर्त रूप देखता है, अतः अपनी इच्छानुसार तत्वों से संघटित वस्तुओं के तत्वों का विश्लेषण एवं पुनः संश्लेषण तथा स्वात्मविवर्तन द्वारा उनमें विविध अवस्थाओं एवं विकारों को उत्पन्न करने एवं उनका उपसंहार करने में समर्थ होता है। क्योंकि उसको अप्रतिहत स्वातन्त्र्य-वाली प्रभुशक्ति प्राप्त रहती है। यहाँ इसी सिद्धि को "भूतपृथक्त्व" कहा गया है।

शरीर में, कलाओं का उपसंहार कर लेने से सिद्धि का अङ्कुर-पल्लवित-स्फुरित होता है। 'कला' आदि के कारण अपहस्तित-ऐश्वर्य-वाले पुरुष चेतन के पञ्चकञ्चुक प्रावरण हैं, ये कञ्चुक राग, नियति, काल, विद्या और कला हैं, जो माया के कार्य हैं। ये ही माया के विग्रह हैं, अर्थात् मायिक हैं। इनका उपादान माया से अतिरिक्त प्राकृतगुण या भूत नहीं हैं, मायामात्र ही इन पाँचों का उपादान है। इन पाँचों का माया में उपसंहार कर देने पर और माया को निजाधिष्ठान-चैतन्य की शक्तिरूपा निभालन से ही पञ्चकञ्चुकों से मुक्ति और पञ्चकञ्चुकों का ऐश्वर्य-रूप से भान होता है। यह दशा "शरीरे संहारः कलानाम्" इस सूत्र से स्थापित किया। इसी प्रकार नाड़ीसंहार, भूतजय, भूतकैवल्य और भूतपृथक्त्व की भी कार्य को कारण में लयपूर्वक चिन्तन, स्मरण से सिद्धि होती है। अनैश्वर्य जो कार्यकारणमात्र से आबद्धता है, (अर्थात् प्राकृत=प्राकृतवपु गुणमय मन, बुद्धि, और अहंकार इन त्रिगुण में ही जो आबद्धता है) इससे मुक्त और इसका ऐश्वर्य रूप से भान होना, यह सब लयचिन्तन से योगी को प्राप्त होता है। जिस प्रकार प्रकृति से ऊर्ध्व पुरुष मायिक कञ्चुकों से मुक्त होकर ईश्वरवत् मायिक ऐश्वर्य का अनुभव करता है, उसी प्रकार प्रकृतिमुक्त, गुणमुक्त, पञ्च-भूतमुक्त योगी भी भगवत्संबन्धिनी मायाशक्ति के द्वारा ही कला आदि कञ्चुकों से सन्नद्ध अप्राकृत-ऐश्वर्य का अनुभव करता है। पुरुष चैतन्य (किंचित् ज्ञान, किंचित् क्रिया स्वतन्त्र) सांख्य-प्रतिपादित नानापुरुष पृथक् पृथक् 'नारायण' हैं, उपनिषत्-प्रतिपादित एक 'महानारायण' में सभी नारायणों का अर्थात् पुरुषों का उपसंहार करने पर तत्तत् अनैश्वर्य ऐश्वर्यके रूपमें तत् तत् दशाओंका परामर्श संभव है। इसीलिये गुह्यातिगुह्य महाप्रभु कहते हैं–देखो ! चित्त है आधार जिसका ऐसा जो पाञ्चभौतिक शरीर है, इस शरीर में आत्मा की ही स्वतन्त्रता होने से गृह में गृहपति के समान स्वाम्य है, इसलिये स्वामी चिदात्मा पर ही नाड़ी का उपसंहार करने पर भूतजय हो जाता है। चित्त को भूतों से हटाकर चिदाकाश में लगाने से "भूतकैवल्य" भी हो जाता है अर्थात् पञ्चभूतों से और पञ्चभूतों से बना जो यह शरीर है, (खण्डपिण्डात्मक) इससे मुक्त होकर

मायिक सिद्धियों के समान प्राकृत गुणमयी और भौतिक भूतमयी सभी सिद्धियाँ अङ्कुरित-पल्लवित होती हैं।

नाड़ी का उपसंहार कैसे करें ? देखो ! चिदाकाश ही में सब नाड़ियों का मुख है, क्योंकि सभी नाड़ियों का आधार पञ्च प्राणवायु हैं, और उनका आधारमात्र चिद् विभु है। उसी चिद् की ही ये वायुपंचक नाड़ी-वृत्तियाँ हैं। इन सबका चिद् में लय होने पर ये उसकी शक्तिरूपा होकर स्फुरित होती हैं। देखो ! स्थिरत्व, द्रवत्व, उष्णत्व, चलत्व, और सौषिर्य (अवकाश) ये पाँच भूतों के गुण हैं, अथवा ये ही पञ्चभूत हैं इनका चिद्विभु में लय करके जब स्वातन्त्र्यशक्ति के बल से योगी पृथिव्यादि के उक्त गुणों के विपरीत अस्थिरत्वादि की विभावना करता है तब सब में एक गुण आ जाता है, और उस की विपरीतता भी आ जाती है। स्थिरत्वादि उसके लिये प्रतिबन्धक नहीं होते, इस को वार्तिक व्याख्या में कहा गया है—

"तस्य वृत्तिलयान्मध्ये षड्गुणा वृत्तिरुत्तमा।
स्थिर-द्रवोष्ण-चलता सौषिर्यविपरीतता ॥"

और यही उसकी भूतजयाख्य सिद्धि भी है। स्थान और लक्ष्य के प्रभेद से विभावना करने से भूतजय होता है। किसको ? जो भूतों से पृथक् भूतों का अधिष्ठान चित्स्वरूप निजको जानता है, अपने में से भूतों का निरास कर देने पर अथवा सिद्धियों की आसक्ति का त्याग कर देने पर अनुपाधिक कैवल्यदशा का वह अनुभव करता है। इसलिये वह षट्त्रिशत्तत्वों के ऐश्वर्य से युक्त होकर पृथक्-पृथक् सब भूतों को स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न करता है। केवल आत्मबल के स्पर्श से संपूर्ण विश्व को अपना ही विवर्त निश्चय कर लेने पर फिर संघातस्थ हो, चाहे आत्मस्थ हो, वह सर्वत्र स्वतन्त्र-अखण्डित-प्रभुशक्ति संपन्न होता है ॥ ५ ॥

इस प्रकार मायिक, प्राकृत, भौतिक ऐश्वर्यशक्ति-संपन्न, यह प्रमाता नानासिद्धिजालों में व्यामोहित होकर कहीं चिदानन्द सत्-स्वरूप के अनुभव से वञ्चित तो नहीं होजाता ? इसपर उमारमण कहते हैं:—

मोहावरणात् सिद्धिः ॥ ६ ॥

यद्यपि उक्त सिद्धियाँ स्वरूपप्राप्त योगी को, चित्स्वरूप-आत्मबल से ही प्राप्त होती हैं, तथापि इनका उपयोग कामक्रोधादिरूप स्वरूपाच्छादक मोह-दशा में ही होने से इनका उपयोग करने वाला, इनमें आसक्त योगी, मुख्यलक्ष्य-सच्चिदानन्द-स्वरूप के अनुभव से वञ्चित तो होता ही है। अतः इस अधःपतन से बचने के लिये उसे कामादिवृत्तियों की उत्पत्ति की पूर्वस्थिति में अथवा इन वृत्तियों के विलय-क्षण की स्थिति में चित्त को समाहित करने से लक्ष्यभूत-परसिद्धि प्राप्त हो सकती है अर्थात् वृत्तियों के उत्पत्ति-लय-स्थानभूत-आत्मस्वरूप में चित्त को समाहित करे।

जो स्वरूप को भूल कर मायिक, प्राकृत, भौतिक-विग्रहाभिनिवेश से अनुरञ्जित है, उसी के लिये ये सिद्धियाँ उपयोगी हैं। वस्तुतः ये सिद्धियाँ समाधि में विघ्न ही हैं।

इन सूत्रों में भगवान् शंकर ने सिद्धिवाञ्छा करने वाले साधकों को अभीष्ट-प्राप्ति के लिये, स्वरूप-सिद्धि-लाभ के साथ-साथ आनुषङ्गिक लाभ ऐश्वर्यरूपा सिद्धि, जिस अभ्यास से होती है उसी प्रक्रिया को कहा है, परन्तु ये संपूर्ण सिद्धियाँ मोहावरण में ही संभव हैं। क्योंकि पारमार्थिक विचार से अधरभूमिकाओं की सिद्धियों का उदय, भेदप्रथास्पद होने से मायाकोटि में ही आता है। जैसे कोई अजन्मा अपनी माया अर्थात् इच्छाशक्ति से जन्म लेकर और बहुतों को जन्माकर मारे और जिलाये। इस प्रकार भौतिक, प्राकृत, मायिक सकलसिद्धिमात्र मायिक हैं। इसलिये प्रभु ने कहा "मोहावरणात्सिद्धिः" देखो ! मोह का स्वरूप—काम, क्रोध-लोभ, हर्ष, भय, त्रासके उदय की अवस्था में चाहे, अत्यन्त प्रहर्ष की भी अवस्था हो यहाँ सर्वत्र मोह की ही महिमा है, 'स्वस्वरूप' चिदानन्द, सर्वज्ञान सर्वक्रिया में स्वतन्त्र है। कोई भी सिद्ध सर्वज्ञाता, सर्वकर्ता नहीं होता, इसलिये सर्वज्ञाता सर्वकर्ता जो चैतन्य है, उस आत्मा का आवरक होने के कारण ये सब सिद्धियाँ हेय हैं। मोह होने पर ही ऐसी सिद्धियों की इच्छा होती है ॥ ६ ॥

इस माया-मोह रूप सिद्धजाल से विमुक्त को क्या लाभ होता है ? इस पर महेश्वर कहते हैं:—

मोहजयादनन्ताभोगात् सहजविद्याजयः ॥७॥

मोह-माया पर ऐसी विजय, "जिससे माया मोह की वासना भी सर्वदा के लिये मिट जाय" प्राप्त कर लेने पर 'सहज विद्या' का लाभ होता है ।

(अनन्तः=संस्कार प्रशमनपर्यन्तः आभोगो=विस्तारो यस्यतादृशात् =मोह जयात्)

काम क्रोधादिस्वरूप मोह की बहुत शाखायें हैं, अर्थात् उसका बहुत बड़ा विस्तार है, उसपर संस्कार प्रशमनपर्यन्त पूर्णरूप से जय प्राप्त कर लेने से जब योगी सुप्रबुद्ध हो जाता है, तब उसमें–"पूर्णाहंविमर्शसविद्" नामक अकृत्रिमविद्या का उदय होता है । यही 'सहजविद्या' है ।

अथवा–मोहजय से योगी अनन्ताभोग=अनन्तभट्टारक नामक रुद्र से अधिष्ठित जो "शुद्धविद्यापद है" उसपर अधिष्ठित होकर "सहजालोक-संपत्" को प्राप्त करता है । "शुद्धविद्यापद में अनन्त नाम वाले रुद्र प्रमाता द्वारा सब ओर से शुद्धविद्या का साम्राज्य भोगा जाता है" यह आगम प्रसिद्ध है । यहाँ "अनन्ताभोगात् सहज-विद्याजयः" का अर्थ है "अनन्ताभोगं=सहजविद्यापदम् अध्यास्य सहजालोक-संपदं प्राप्नोति" यहाँ "ल्यब्लोपेकर्मणि" से कर्म में पञ्चमी है । क्योंकि मोह बहुशाखा वाला है, इसको जीत लेने पर ही सुप्रबुद्धता मानी जाती है । एक ही चित्, संकुचित होकर नाना नामरूप से प्रथित होता है ।

"एको देवः सर्वभूतेषुगूढः, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः, साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च" ॥

देह में 'मैं हूँ' यह निश्चय ही 'तम' है । स्व, स्व देह को ही निज-रूप जानना 'मोह' है । इसी के कारण सिद्धिजाल की वाञ्छा होती है । अतएव अपूर्ण है । तो जबतक देह में 'मैं हूँ' यह निश्चय है, तबतक देही पशु-आत्मा, वासना से विबद्ध होने के कारण, तत् तत् साधनों के द्वारा तत् तत् परिमित सिद्धियों का लाभ करके दुःखी ही रहता है । 'मैं देह

नहीं हूँ' 'चिद्रूप हूँ' 'सभी देहों में 'मैं' ही प्रमाता हूँ':—

इस प्रकार का निश्चय होने पर अनन्त भगवान् महारुद्र का जो यह अनन्त-आभोग है वह सब इस शिवयोगी का ऐश्वर्य हो जाता है। इस दशा में—"अहमस्मि परब्रह्म मयिसर्वं प्रतिष्ठितम्", "सर्वो ममायं विभवः", "मत्तः सर्वमिदं जगत्", इत्यादि वचनानुसार सर्वत्र स्वप्रकाशोदय ही स्पष्ट मोहजय है। स्वरूप की सर्वत्र परिपूर्णता को ही अनन्त-आभोग कहते हैं। स्वरूप-प्रकाशात्मिका जो सहजविद्या पहले कही गई थी, उसी का जो उद्भव है, उसी को उत्तम आलोक कहा है। जैसे-दिन होने से विश्व स्पष्ट भासता है, इसी प्रकार चिदालोक में सब अपना आत्म-वैभव भासता है ॥ ७ ॥

इस प्रकार सिद्धि प्राप्त योगी को, भेदाभासमय-विश्व को एक मात्र ज्ञान-स्वरूप आत्मा से अभिन्न रूप में ही देखने के लिये, मोहरहित होकर नित्य जागरूक रहना चाहिये—इसी विषय पर महाप्रभु कहते हैं:—

जाग्रद् द्वितीयकरः ॥ ८ ॥

जाग्रत् अर्थात् सहजविद्या की स्थिति में जो जागरूक रहता है, उसके लिये पूर्णविमर्शात्मक 'अहमेव सर्वम्' इस अपनी पूर्णाहन्ता की अपेक्षा द्वितीय याने इदन्तया विमर्शनीय वेद्याभासात्मक जो जगत् है, वह कर-प्रकाश-स्वरूपस्वात्मा की रश्मि-रूप में ही स्फुरित होता है। अर्थात्-जैसे सूर्य और सूर्य की किरण 'एकमेक है, उसी प्रकार शिव-स्वरूप चैतन्य का चेत्य-चेतना नाना प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयरूप जो जगत् है ये सब चित् किरण ही हैं।

"तरङ्ग फेनभ्रम बुद्बुदादि, सर्वं स्वरूपेण जलं यथा तथा।
चिदेव देहाद्यहमन्तमेतत् सर्वं चिदेवैकरसं विशुद्धम् ॥"

अथवा—"ज्ञानं जाग्रत् इस पूर्वोक्त (१।८) सूत्र में ज्ञानशक्ति को ही 'जाग्रत्' कहा गया है, तदनुसार यहाँ 'जाग्रत्' का अर्थ है, ज्ञानशक्ति। पहले सूत्र में ज्ञान को अनुवाद्य (उद्देश्य) और जाग्रत् को विधेय मान

कर व्याख्या की गई थी, अब इस सूत्र में जाग्रत् को अनुवाद्य (उद्देश्य) कोटि में और द्वितीय 'करत्व' को विधेय कोटि में रखकर व्याख्या की जा रही है। क्योंकि सूत्र 'विश्वतोमुख' होते हैं। जैसे-वाह्यवस्तुओं को कर=हाथ से ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार रूप, आलोक, मनस्कार-मेय, मान, मातृ रूप से भासित, जो कुछ भी यह विश्व है, उसे प्रबुद्ध योगी अपने ज्ञानशक्तिरूपी कर (हाथ) से 'भेदाभेद-विकल्पोपहतन्याय से स्वात्म-चैतन्यप्रकाश रूप में ग्रहण करता है। इस प्रकार एक ही संवेदन (ज्ञानशक्ति) में वाह्याभ्यन्तर स्वात्ममय विश्व को, विश्रान्त (अन्तर्भूत)जानता हुआ योगी मोक्षलक्ष्मी का भागी होकर जीवन्मुक्त हो कर व्यवहार आचरण करता हुआ स्वात्मा में ही विहरण करे" यह तात्पर्य है। यहाँ ज्ञानशक्ति को भी करवत् 'कर' मान कर लौकिक 'कर' की अपेक्षा उसे द्वितीय 'कर' कहा गया है। जैसे आपके हाथ का क्या महत्व है? यही न, कि कोई चीज हाथ से ले सकते हैं, ग्रहण करते हैं, ऐसे ही ज्ञानशक्ति को भी दूसरा हाथ स्वीकार करो, क्योंकि प्रबुद्ध योगी विश्व की वस्तुओं को ज्ञानशक्ति रूपीहाथ से ही प्रकाशाभिन्न रूप में ग्रहण करता है।

जैसे स्वप्नसृष्टि हमारे ज्ञानशक्ति का ही विभव है, परन्तु यह ज्ञात नहीं होता। जाग्रत् अवस्था में स्वप्नसृष्टि का एक कण भी शेष नहीं बचता, इसी प्रकार स्वप्न में भी जाग्रत्-सृष्टि का एक कण भी नहीं रहता, जिस प्रकार स्वप्नसृष्टि-ज्ञाता-प्रमाता का ज्ञान है अर्थात् ज्ञान ही ज्ञेय की मूर्ति धारण करता है तथा सूर्य और सूर्य की किरण जैसे अभिन्न रूप है, वैसे ही ज्ञानस्वरूप आत्म-सूर्य का किरणस्थानीय विश्व भी उससे अभिन्न ही है।

भाव यह—जैसे स्वप्न में, स्वप्नसृष्टि में ज्ञान रूपी मन ही ज्ञेय-ज्ञानाकार हुआ है, उसी प्रकार जाग्रत् भी ज्ञानमात्र आकार वाला है। विद्वान् को जाग्रत्, स्वप्न के सदृशही अपना मनोविलास निश्चित होता है ॥ ८ ॥

इस प्रकार स्वात्मा में ही विहार करने वाला नित्य-प्रबुद्ध अतएव सर्वदा जीवन्मुक्त जो शिवयोगी है, उसके शरीर में चिरकाल से रहने वाली 'मोहलक्ष्मी' (जो पहले अविद्या रही वही अब आत्मविभूति होने से 'लक्ष्मी' बन गई है) जीवन-पर्यन्त उसके शरीर का आश्रयण तो करती ही है, अतः सदा परानन्द-रसपान से मत्त, जैसी स्थिति में रहने वाले उस महाज्ञानी की व्यावहारिक चेष्टाएं कैसी होती हैं ? उस दशा का स्वयं अनुभव करनेवाले परमशिव कहते हैं:—

नर्तक आत्मा ॥ ९ ॥

व्यवहार-दशा में जीवन्मुक्त-आत्मा नर्तक अर्थात् कुशलनट-की भाँति अन्तर्निगूहित स्वस्वरूपभित्ति पर तत्तत् जागरादि अवस्थाओं के अनुरूप भूमिकाओं के प्रपञ्च को अपने विमर्श-स्वरूप परिस्पन्दक्रीडा के रूप में प्रकट करता है।

जैसे कुशल नट रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि का पूर्ण-अभिज्ञ होने पर भी अल्पज्ञ ग्राम्यपात्र बनकर अनुकार्यगत रस-भावादिकों को उन-उन आङ्गिक अभिनयों एवं चेष्टाओं से व्यञ्जित करता हुआ भी अपने नट-स्वरूप को नहीं भूलता, अतएव उन अभिनयों से दर्शकों को प्रभावित करके रसनिमग्न करता हुआ भी स्वयं किञ्चिन्मात्र भी प्रभावित नहीं होता," तद्वत्, सदा परानन्दरस में निमग्न रहता हुआ यह प्रबुद्ध आत्मा, व्यवहार-दशा में इष्टप्राप्ति, अनिष्टपरिहार की इच्छा के बिना ही इन्द्रियों की चेष्टाओं के अनुकरण द्वारा जगन्नाट्य का अभिनय करता हुआ विभिन्न रूपों से स्फुरित होता हुआ भी अपने आप में ज्यों का त्यों रहता है, उसे सर्वत्र 'स्वात्मा' का ही भान होता है, उसकी दृक्शक्ति विलुप्त नहीं होती, अतः तृप्तमना होकर विलास करता है ॥ ९ ॥

इस नर्तक आत्मा की रङ्गभूमि क्या है ? इस पर महादेव कहते हैं:—

रङ्गोऽन्तरात्मा ॥ १० ॥

नर्तक आत्मा का 'रङ्ग'=तत्तद्भूमिका (नेपथ्य) ग्रहण-स्थान (अन्तर्गृह) अन्तरात्मा अर्थात् पुर्यष्टकनियन्त्रितजीव है, स्वरूप संकोच से प्राण-प्रधान 'जीव' पद पर अधिष्ठित होकर आत्मा, नर, तिर्यग्, देव आदि देहभूमिकाओं को ग्रहण करके अपने शक्ति-परिस्पन्द क्रम से सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान, अनुग्रहरूप पञ्चकृत्यों को करता हुआ जगन्नाट्य को आभासित करता है।

विभु, चिदात्मा जब बहिरुन्मेष-दशा को स्वीकार करता है, तब रङ्गमञ्च पर सज-धज कर खड़े हुए नर्तक के समान विश्वनाट्य का अभिनय करता है और उसी की अन्तर्निमेषावस्था जो है वही अन्तरात्मा-पञ्चतन्मात्रा, मन, बुद्धि और अहंकार की समष्टि (पुर्यष्टक) है, जहाँ वह विविध-वितत-विश्वनाट्य क्रीड़ा-प्रदर्शनार्थ भूमिकाओं को ग्रहण करके बहिर्मञ्च (रङ्गमञ्च) पर आकर सृष्टि आदि क्रीडा-स्वरूप नृत्य जैसा करता है ॥ १० ॥

नर्तक आत्मा की ये इन्द्रियाँ स्वरूपाच्छादन तो नहीं करतीं ? इस पर भगवान् शंकर कहते हैं, नहीं:—

प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि ॥ ११ ॥

स्वरूप-स्थिति में जागरूक, विश्वनाट्य का अभिनय करने वाले योगी की इन्द्रियाँ, सहृदय प्रेक्षक की भाँति, नाट्य-रसामृत का चमत्कारपूर्ण 'आनन्द' ही योगी को समर्पित करती हैं, इसलिये इन्द्रियाँ उसके आत्मस्वरूप का आवरण नहीं करतीं।

सुप्रबुद्ध, स्वतन्त्रयोगी परमात्मा हो जाता है। उस परमात्मभाव के प्रभाव से उसकी इन्द्रियाँ भी अपनी-अपनी वृत्ति में प्रेक्षकों की भाँति परिनृत्य करते हुए चिद्विभु की ओर ही अभिमुख होती हैं, अतः इस

योगी के स्वरूप के आवरण के लिये समर्थ नहीं होतीं।

स्वतन्त्र-चैतन्य-आतमा ही बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि का अवभासक है, क्योंकि संपूर्ण विश्व, परमात्मप्रकाश से ही प्रकाशमान है, यदि नित्योदित, चिन्मय, भासमान, परमात्मप्रकाश का सहारा न प्राप्त हो तो, यह सारा जगत्, जड़-अन्ध-मूक-तुल्य हो जाय इसलिये चित्प्रकाश से अनुप्राणित जो बुद्धि-इन्द्रियादि-अन्तर्वाह्यकरणवर्ग है, वह त्रैलोक्य-नाटक प्रकटनजन्य आह्लादातिरेक से भर जाता है, उसका अहं इदं-विभाग भावगलित हो जाता है, वह (इन्द्रियवर्ग) स्वरूप-रस का ही अनुभव करता हुआ सहृदय, रसज्ञ, प्रेक्षक की भाँति प्रत्यगात्मद्रष्टा योगी के लिये परामृतमय रसस्वरूप चमत्कार (पूर्णआनन्द) समर्पित करता है। अतः प्राकृत पशुजनों की भाँति इस योगी की इन्द्रियों का अखण्ड-अभिन्न चिन्मयामृत रस का अनुभव खेचरी, भूचरी, दृक्चरी आदि भेदावभासक शक्तियों द्वारा आच्छादित नहीं होता, जिससे वे दुःखमय विश्वसरणि में परिवर्तित नहीं होतीं। इसलिये अन्तरङ्ग-भूमि पर स्थित हो करके परमात्मा, पूर्ण प्रमातृभाव में जब नर्तक का स्वाँग रचता है, तब इन्द्रियाँ प्रेक्षकों के सदृश ("जैसे प्रेक्षकगण उस नर्तक की छवि नखशिख भावभङ्गिमा देख कर आनन्द-विभोर होकर प्रेक्षक-नर्तक-भाव को भूलकर एक अपूर्व आह्लाद का अनुभव करते हैं", उसी प्रकार) चमत्कारपूर्ण, चिद्विलास रसमय, अखण्ड-आह्लाद से परिपूर्ण होकर उसे आतमा में समर्पित करती हैं। सभी प्रेक्षकों का एक ही अवलम्बन नर्तक है। नर्तक अपने स्वाँग में ही अनुरक्त सर्वबन्धनविगलित-परमानन्दपूर्ण 'निजवैभव' का स्वयं रसराजरस का आस्वादन करता है। आस्वाद्य, आस्वादन, आस्वादक त्रिपुटी रूप लीला प्रस्तुत करता है। यही आत्मा का नर्तन है ॥ ११ ॥

इसके अनन्तर सर्वोत्कृष्ट, स्वतन्त्र-अवस्था योगी को कैसे प्राप्त होती है ? इसी पर अतुल अमूल्य पूर्णत्व प्रदान करने वाली बात अगले सूत्र में आत्म-महेश्वर प्रकट करते हैं:—

धीवशात्सत्त्व सिद्धिः ॥ १२ ॥

तात्विक स्वरूप के विमर्शन से निर्मल अर्थात् भेदग्रहणरहित जो बुद्धि है, वही 'धी' है। उसी बुद्धि से सत्व-सिद्धि अर्थात् स्फुरत्तारूप जो सूक्ष्म-आन्तर-परिस्पन्द है, उसकी नित्याभिव्यक्ति होती है।

शब्दादि विषयक जो बुद्धिवृत्ति है, वह जिस समय चिद्रूपता का अभिनिवेश करने वाली होती है, उस समय बुद्धि सर्वबोध्य को बोधमात्र ही प्रकाशित करती है, तब वही बुद्धि शुद्ध होकर 'धी शक्ति कही जाती है। अन्तःकरण और विभिन्न ज्ञानों का आशय छोड़कर एक चिद्आशय-निश्चय जब रह जाता है, तब उसे सत्व की भित्ति कहते हैं। वही वेद्य-वेदना का अवधिभूत है उसी अवधिभूत, सत्, चित् का निश्चय ही वेदक-वेद्य-वेदना को एक चिद्रूप प्रदान करता है। स्वस्वरूप की जो अखण्ड प्रत्यभिज्ञा है यही स्वरूप-सिद्धि है।

धीवशात्सत्त्वसिद्धिः— बुद्धि जब धी हो जाय याने चिद् का ही निभालन करे तब धी होती है, धारणात् धीः और जब पूर्ण निश्चय को छोड़ती चली जाती है, तब बुद्धि कही जाती है।

स्वतः प्रकाश-रहित इन्द्रियों में चिदात्म-प्रकाश सदा निरन्तर प्रवाहित होता रहता है, वही इन्द्रिय-प्रणाली से बुद्धिवृत्ति का रूप ग्रहण करता है। चिन्मय-प्रकाश-रूप-वृत्ति में प्रतिबिम्बित मायिक शब्दादि चिन्मय-स्वभाव से व्यतिरिक्त नहीं हैं, जैसे स्फटिक में रूषित (प्रतिबिम्बित) विभिन्न वर्ण स्फटिक से अलग कुछ नहीं हैं अर्थात् स्फटिक रूप ही हैं। बुद्धि, जब इस प्रकार का निश्चय शास्त्रोक्त युक्तियों एवं अनुभवादि प्रमाणों द्वारा कर लेती है, तब उसकी 'चिद्भिन्न' जगत्-सत्ता की वासना प्रक्षीण हो जाती है और रजस्तमोवृत्तिकृत मलिनता भी नहीं रह जाती, क्योंकि रज=भेदवेदना, तम-वेद्य-पदार्थ, ये दोनों भी नहीं रहते। अतः इस प्रकार की विशुद्ध बुद्धि–'जिसे यहाँ धी कहा गया है'– सर्वत्र स्वज्योतिर्मय परप्रकाश-चैतन्यघन का ही समवेक्षण करती हुई योगी को स्फुरत्तारूप जो सत्वप्रकाश-सिद्धि है, उसका आस्पद बना देती है"–यही "धीवशात् सत्त्वसिद्धिः" इस सूत्र का तात्पर्य है ॥ १२ ॥

इस प्रकार का स्वभाव कैसा होता है ? तो निज स्वभाव को प्रकट करते हुए महेश्वर कहते हैं—हमारी प्रकृति की भाँति उसका भी स्वभाव है:—

सिद्धः स्वतन्त्रभावः ॥ १३ ॥

सहज ज्ञत्व-कर्तृत्वादिरूप स्वातन्त्र्य '(संपूर्ण विश्व को स्ववश में रखने वाला)' सिद्ध ही है।

जिसके द्वारा शिव से लेकर धरणी पर्यन्त अशेष विश्व को धारण पोषण किया जाता है, देखा जाता है, भासित किया जाता है और स्ववश में स्थापित किया जाता है। वही सर्ववशीकरण-स्वभाववाला सहज ज्ञत्व-कर्तृत्व ही इसका स्वतन्त्रभाव (स्वातन्त्र्य) है। जैसे रासायनिक संसिद्ध औषध (पारदादि) से जो धातु आविद्ध होती है, वह धातु हेम बन जाती है, इसी प्रकार शिवस्वरूप-भावना से भावित संपूर्ण-विश्व इस शिवयोगी के वशवर्ती हो जाता है ॥ १३ ॥

शिवयोगी का सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्व जैसे निज शरीर में होता है, वैसे ही परशरीर में भी होता है क्या ? इसपर पार्वतीरमण कहते हैं:—

यथातत्र तथान्यत्र ॥ १४ ॥

जैसे अपने शरीर में स्वात्मबल की भावना से सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्वादिशक्तियाँ अभिव्यक्त होती हैं, तद्वत् परकीयत्वेन अभिमत शरीरों में भी निज व्याप्ति के अनुभव करने पर सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्वादि शक्तियाँ स्फुरित होती हैं। अर्थात् जैसे इस अधिकारी के इसी स्वाधिकृत निज शरीर में स्थित रहकर स्वात्मशिवता का परामर्श करने पर सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्वादि संभव होता है। उसी प्रकार स्वात्मबल स्वाभिन्न-चिदानन्द-महेश्वर का जो सहजबल है, उस शक्ति के आक्रमण से सर्वत्र परकीयत्वेन अभिमत जो दूसरे शरीर हैं उनमें भी अव्यवहित सर्वज्ञत्वादि स्फुरित होता है। इसमें सन्देह नहीं। भाव यह है कि—जैसे एक अन्तःकरण में पूर्णशिवत्व का जो निभालन है, उस निभालनशक्ति से सर्वज्ञता सर्व-

कर्तृताशक्ति से निश्चित है। इसी प्रकार सर्व अन्तःकरणों में एक ही सर्वाधिष्ठान परिपूर्ण शिवत्व के निभालन से स्वशरीर के समान परकीय अभिमत शरीरों में भी स्वतन्त्र शिववत् प्रेरकत्व होता है। चाहे जिसको इच्छानुसार प्रेरित करता है, उसमें प्रवेश करता है ॥ १४ ॥

अब शँका होती है कि दूसरे के अन्तः करण में प्रवेश करने पर योगी उस अन्तःकरण के, शरीर के, धर्मों से उपहत होता है या नहीं ? कैसे वह अकाल-कलित रहता है ? इसपर कालारि; काल के भी काल महाकाल कहते हैं:—

विसर्ग स्वाभाव्यादबहिः स्थितेस्तत्स्थितिः -१५

विसर्ग-सृष्टि परमेश्वर का स्वभाव है, अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति से वह स्वयं को जगत् रूप में आभासित करता है, इस लिये जगत् की स्थिति प्रकाश-स्वरूप शिवसे बाहर नहीं है, अतः शिवशक्त्यावेश से कहीं भी रहता हुआ शिवयोगी स्व-स्वभाव जो अकाल-पद है, उसी में स्थित रहता है, वह काल, कलनान्तर्गत, अन्तःकरणों अथवा शरीरों के धर्मों से उपहत नहीं होता।

इच्छा से लेकर धरणी पर्यन्त समूची सृष्टि सत्‌चित् से ही हुई है। अतः समूची सृष्टि इसी सत् चित् के अन्तर में ही स्थित है, सत् चित् के बाहर नहीं। अतः उस शिवयोगी की स्वतः- सिद्ध स्वयंप्रकाश चिज्ज्योति रूप सहज सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्व शक्ति अप्रतिहत रहती है। जैसे "सदेव सौम्य इदमग्र आसीत्" "आत्मा वा इदमग्र आसीत्" इस वचन से सद् विवर्तन सर्व जगत् सत्तामात्र, चित् विवर्तन सर्वजगत् प्रकाशमात्र, आनन्द विवर्तन सर्वजगत् प्रियतामात्र, एवं सच्चिदानन्द विवर्त ही अशेष विश्व स्वाङ्ग-कल्प होने से आत्मा शिव से भिन्न नहीं है। अतः सर्वत्र समव-स्थित जितने प्रकाश्य हैं उनमें प्रकाशक आत्मा से अभेद भावना की दृढ़ता से योगी अकाल पद पर समासीन रहता है, अतः वह कभी भी काम और काल के भेद में नहीं आता।

तात्पर्य यह है कि 'विसिसृक्षा विसर्ग (सृष्टि) करने की इच्छा परमेश्वर का स्वभाव है "सोऽकामयत सृजै इति एकोऽहं बहु स्याम" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार वह स्वयं बहु हो जाता है। अर्थात् आधार भूत अपने में सृज्य वस्तुसमूहों को समुन्मीलित करता है, उनका धारण पोषण, विकास, विस्तार करता है, विभिन्न विचित्र रूपों में। परन्तु उन्हें 'एकोऽहं बहुस्याम' इस संकल्प के अनुसार अपने से अपृथक् रूप में ही देखता है, अत. स्वात्म-विस्मृति को नहीं प्राप्त होता। यहाँ तक कि मायाभूमि में भी वेद्य का जो प्रकाशन है, वह वस्तुतः परप्रकाश से अविनाभूत होने के कारण चिद्रूप पर-प्रकाश के अन्तःस्थित रहता हुआ ही उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति से बहिः स्फुरित होता है, इसलिये अपने वास्तविक स्वप्रकाश-चिद्रूप से अविच्युत जो अधिकारी है, वह मायिक प्राकृत धर्मिधर्मभाव से कदाचिद् भी उपहित अथवा आक्रान्त नहीं होता है ॥ १५ ॥

अब भगवान् महेश्वर गुरुओं के भी गुरु पार्वतीरमण इस अकाल पद प्राप्ति के लिये जो हेतु है, उसे कहते हैं:—

बीजावधानम् ॥ १६ ॥

ॐ सर्वजगत् का बीज सर्वोपरि चिदात्मा ही श्रुतिस्मृति आगम के द्वारा प्रसिद्ध है। सावधान चित्त होकर तद्विमर्श ही अवधान है। इसी से अकाल अकाम पद की प्राप्ति होती है। क्योंकि मोहादि-जन्य असद्-आग्रह की हानि इसी से होती है। अर्थात् परिमित अहंभाव का निरास करके विश्वकारण शाक्तपद का निरन्तर दृढ़ अभ्यास करने से उत्पन्न जो चित्तका अवधान है, समाधान है, एक अद्वितीय चिन्मात्र निभालन है, यही अकालकलित-शिव-स्वरूप-प्राप्ति का उपाय है ॥ १६ ॥

सर्व विश्व की उत्पति की जो मूलभूमि है–चिदात्मा, उसमें प्रवेश इस शिवयोगी को किस प्रकार की यौगिक प्रक्रिया से होता है ? इसपर अनाथ-नाथ सर्व-योगियों के नाथ कहते हैं:—

आसनस्थः सुखं हृदेनिमज्जति ।। १७ ।।

शिवयोगी नित्य ऐकात्म्य-भाव से अन्तर्मुख होकर जिस परभूमि में रहता है, उसी "शाक्तबल, को" यहाँ "आसन" शब्द से कहा गया है, वहाँ पर स्थित होकर वह नित्य अन्तर्मुखभाव से उसी शाक्तबल का परामर्श करता रहता है, अतः उससे आविष्ट होकर सुखपूर्वक, अनायास ही (परापरध्यान, धारणा आदि स्थूल यौगिक प्रक्रिया के प्रयास के बिना ही) हृदे (परामृत समुद्र में) निमग्न रहता है। देहादिसंकोच का सँहार करके, उसी में डुबोकर स्वयं तन्मय हो जाता है। इस प्रकार शिवयोगी की चिदात्मप्रवेश की यौगिक-प्रक्रिया अन्य योगियों के प्रयास बहुल यौगिक अभ्यासक्रम से विलक्षण एवम् आयास-रहित है—इसी को कहा कि "सुखं हृदे निमज्जति"।

विज्ञाततत्व जो शिवयोगी हैं, वे चिदानन्दमय आत्मस्वरूप के अभ्यन्तर प्रवेश के लिये 'आत्मयोग' को ही उपायतया स्वीकार करते हैं। तदनुकूल प्रयत्न से उनकी जो आत्मप्रवण चित्तवृत्ति बनती है, उसके साथ उनकी प्राणवृत्ति भी एकीभूत हो जाती है। उसका दृढता के साथ परिशीलन करने पर उभयवाह-इडा-पिङ्गला की पूरक और रेचक वृत्तियाँ उच्छिन्न होकर सुषुम्ना में प्राण की कुम्भकवृत्ति बन जाती है, साथ ही रवीन्दु-प्राणापान के संघट्ट से उत्पन्न उदानाग्नि जिसे कहा जाता है उसी शुचिनामक उष्णप्राण के ऊर्ध्वोत्क्षेपणात्मक रेचक-वाह के द्वारा सुषुम्नास्थ चित्तसहकृतप्राण अधःस्थित आधारादि पदों का क्रमशः उल्लङ्घन करके द्वादशान्त पद ('मूर्धा') में जहाँ द्वैत का अभाव है" पहुंचकर विश्रान्ति को प्राप्त करता है। यह उदान ही द्वैतरूपी इन्धन को दग्ध करने से 'चण्ड' तथा परमशुद्धि का कारण होने से 'पवमान' भी कहा जाता है। उस उदान के आश्रयण से ही योगी द्वादशान्त पद में स्थित जो शिव-चैतन्यामृत का महार्णव है, जिसमें विश्ववैचित्र्य उच्छलत्तरङ्गायमाण है, उसमें आयासरहित होकर अवगाहन करते हैं। जिसके निरन्तर

संभोगरस के आस्वादन में संलग्न शिवयोगियों की अकालकलित अनुत्तर शाक्त पद की संप्राप्ति होती है, जो बाह्याभ्यन्तरभेदज्ञानरहित अखण्ड स्वतन्त्र्यमयी है।

यहाँ–जो सामान्य लक्ष्य है, उसी को 'द्वादशान्त पद' कहा गया है, अर्थात् स्वस्वरूप का जो प्रथम ख्यापन है; सामान्य स्पन्दरूप ज्ञान क्रिया का जो प्राथम्य है; जिसके विषय में श्रुति में "केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः" इस वाक्य से संकेत किया गया है। वह जो प्रथमप्राण है, और "प्राक् संवित् प्राणे प्रतिष्ठिता" यहाँ जो प्राण है, वही शुचि पावन चण्डादि शब्दों से कहा गया है। आनन्द की अभिव्यक्ति, इसी चण्डप्राण के द्वारा होती है, आनन्द की अभिव्यक्ति में चन्द्र, सूर्य, प्रमेय, प्रमाण, प्राण-अपान, का एकमात्र चण्डप्राण सभी विज्ञानी साधकों के लिये उदान रूप से प्रसिद्ध है। शिवयोगी का जब यही चण्डप्राण आसन हो जाता है, तब उसका सुखस्वरूप जो महाह्रद है, उसमें वह स्वयं डूब जाता है। क्योंकि ज्ञानपूर्व है, जिन योगियों का उन्होंने "सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्" इस मन्त्र के सत् और आसीत् इन दो अमृत सकारों से एक सत्कोअवलम्ब्य और एक सत्कोअवलम्बक जान लिया है। मत्स्य जिस प्रकार उलट करके ही जल पीता है; प्रवाह के विपरीत चलकर के ही अपने जीवन, प्राण के समुद्गम महाह्रद में प्रवेश के लिये सतत ऊर्ध्वात् ऊर्ध्वं छलांग मारते हुए मूलह्रद में पहुँचकर सदा के लिये आनन्दित हो जाता है, एवं सत् जो अमृत है, चित् जो प्रकाश-स्वरूप है, जो अखण्ड आनन्द का महासमुद्र है। दूसरा जो प्रतिबिम्ब-कल्प ग्राहक मत्स्यवत् मत्स्य है, वह इस चण्ड महाज्योति-स्वरूप प्राण अपान का मध्य है।

यह मध्यचण्ड, जो उदान है; वह प्रतिबिम्बित सत् है, यही जब सन्मत्स्य-वलनात्मक-पद्धति का अनुसरण करता है, तो अधर-अधर भूमि का त्याग पूर्वक ऊर्ध्व-ऊर्ध्व अवलम्बन पूर्वक, ग्राह्य ग्राहक संवित् (संवेद्य संवेदन) त्याग कर ग्राहक-भूमि सत् के विज्ञान से 'सोऽहं हंसः' स्वरूप हो जाता है, बस, इसी क्षण में वह पवमान चण्ड मध्य-प्राण-समुदित होता है। उसमें जो प्रवेश है। उसमें दृष्टान्त है "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय" इस प्रकार सन्मत्स्य वलन क्रमसे

विज्ञाततत्त्व शिवयोगी का आसन यह पवमान, चण्ड मध्यप्राण जिसको योगी लोग सुषुम्ना कहते हैं। यही वास्तविक कुण्डलिनी जागृति का रहस्य है। आगमसार भी यही है। मालिन्य आवरण दूर करने के लिये जो उपाय कहा गया है, वह पूर्ण शुद्धि-पूर्ण शुचिता भी इस महाह्रद निमज्जन में ही चरितार्थ है। यथा—

"आत्मा ह्येव महेशानो, निराचारी महाह्रदः।
विश्वं निमज्य तत्रैव, विमुक्तश्च विमोचकः ॥"

अर्थात् सत् चित् आनन्दमय महासिन्धु में विश्व को डुबोकर उसीमें स्वयं भी डूबा हुआ है, परन्तु वह "विमुक्त" है, स्वतन्त्र है, अतएव जिन्हें डुबाया है, उनका 'विमोचक' भी है, अर्थात् अपनी अनुग्रहशक्ति द्वारा उद्धार करने में स्वतन्त्र है, समर्थ है। यह आत्मा ही महेश्वर है, निराचार है, अर्थात् ग्राह्याचार रहित है, इसलिये अगाधगम्भीर-सिन्धुतुल्य है। मातृ, मान मेयादि विविध वैचित्र्यपूर्ण जो संपूर्ण प्रपञ्च है, उसमें निगमागम परिगणित तत्त्वों के अन्तर्गत ही संपूर्ण विश्व एवं सभी प्रमाता हैं। ग्राहक जो प्रमाता हैं, उन्हें किसी भी विषय का निश्चयात्मक ज्ञान अपने अन्तर और बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ही होता है। ग्राह्य में डूबने वाले ग्राहक का निम्नाङ्कित दृष्टान्त है।

जैसे कोई व्यक्ति स्वप्न में कल्पित मिथ्याकलङ्क से दुःखी होकर ग्लानिवश स्व-स्वप्न-कल्पित किसी तालाब में, बालुका भरे घड़े को गले में लटका कर और उसे स्वयं दृढ़ रस्सियों से बांध डूबकर निष्फल आत्म हत्या कर लेता है, और सोचता है कि अब यहाँ मैं सुखी रहूँगा। भले ही पीछे लोग मेरी निन्दा करें, उससे हमारा क्या बिगड़ता है? इस कलङ्क से तो मैं मुक्त हो गया? ऐसा सोच उस जल में डूबकर वहीं सो जाता है, फिर दूसरा स्वप्न देखता है, मानो सोकर जाग गया है और पूर्वस्वप्न की घटना को स्मरण करके कहता है "अहो यह कैसी मोह की विडम्बना है? स्वप्न में अपने को मारकर मिथ्या ज्ञान से मैं ठगा गया, व्यर्थ ही दुःखी हुआ"—ऐसा मानकर आश्चर्य चकित हो जाता है। उसी प्रकार सत् चित् आनन्द स्वरूप यह आत्मा अपने आपको सत् चित् आनन्द नहीं मानता, न जानता ही है, अतः सर्वज्ञातृत्व सर्वकर्तृत्व स्वभाव-रूप अपने महत्-ऐश्वर्य को न जानता हुआ स्वप्न में आत्महत्या करने

वाले की भाँति नाम रूपात्मक बालू और घड़े की मोहरज्जु अपने गले में सुदृढ़ बाँधकर सुख, सत्, चित्स्वरूप अपने को असत् अचित् दुःखरूप करके स्वकल्पित कासार-तुल्य अज्ञान में डूब गया। पुनः स्वप्न जागर अथवा प्रजागर दशा की भाँति स्वस्वरूप का ज्ञान होने पर यथार्थ अनुभव करके कहता है–"मैं परब्रह्म हूँ, मुझसे ही यह साराविश्व उत्पन्न हुआ है, और मेरे में ही प्रतिष्ठित है, इसलिये यह सारा विभव मेरा ही है। व्यर्थ ही मैंने आकाशवत् व्यापक स्वात्मा को घटतुल्य स्वल्पदेह में आवृत-जैसा करके, उसी को अपना स्वरूप मान लिया। इस पिण्डीभूत स्वल्प देह में मैं नहीं हूँ, मैं तो सभी देहों में व्याप्त हूँ। जैसे स्वप्नद्रष्टा की स्वाप्निकदशा का जागर, प्रजागर में केवल स्मरण ही होता है, उसी प्रकार मोहग्रस्त जीव की मोहावस्था की मूढ़दशा, प्रबोधावस्था में सत् चित् सुखघनस्वात्मप्रकाश की प्रत्यभिज्ञा होने पर जागरावस्था में स्वप्नस्मृतिवत् केवल स्मरणमात्र का ही विषय रहती है। अहो! यह कैसा आश्चर्य है? "मैं देह में हूँ" "मैं देह हूँ" इस प्रकार तम और मोह से अभिभूत होकर मैंने मिथ्या ही स्वप्न में आत्महत्या करने वाले की भाँति अपने को स्वयं वञ्चित किया? यह तो बड़ा भारी अनर्थ हुआ? इस प्रकार विमर्श करता हुआ यह प्रमेयचन्द्र षडैश्वर्यसंपन्न स्वात्मप्रमातृभगवच्चन्द्र का चुम्बन, लीला-रसामृत का पान, करता हुआ तन्मय हो जाता है।

आसनस्थः सुखंह्रदे निमज्जति इति। अकालकलित-अनुत्तर-शाक्त पद की संप्राप्ति, उक्त उपाय के अनुशीलन से बहिरन्तःकलना-विकल अखण्ड-स्वतन्त्र्यमयी दशा को यह महाशिवयोगी प्राप्त होता है। अर्थात् सर्वभावों का उद्भव, जो चिद् है, जो सबका बीज कहा गया है, उसको यहाँ ह्रद करके कहा गया है। उसका जो अवधान और अनुप्रवेश है, यह दोनों उपाय यहाँ कहे गये हैं। कालकाम की जय के साथ-साथ अजरामरत्व की प्राप्ति भी इस योगी को संभव है ॥ १७ ॥

अब शङ्का होती है कि इस प्रकार का अखण्डित स्वातन्त्र्यशाली शिवयोगी क्या विश्वनिर्माण कर सकता है? इस पर वृषध्वज, महादेव, चन्द्रमौलि कहते हैंः—

स्वमात्रा निर्माणमापादयति ।। १८ ।।

अपनी कर्तृत्वादिशक्ति से वह यथेष्ट वेद्यवेदकावभासात्मक विश्व के निर्माण करने में समर्थ है।

परमात्मा की जगन्निर्माण-कारिणी ज्ञत्वकर्तृत्व रूपा जो स्वकीया-शक्ति है, वही उस योगी का बल और वीर्य है, जो विश्व के उद्भव का कारण है, इसी लिये वह शक्ति जगन्माता कही गई। पूर्वोक्त बीजावधान और प्रवेश द्वारा तत्पदविश्रान्त शिवयोगी भी उस पराशक्ति से संपन्न होता है। यतः वह विभुसमर्थ है, अतः जगन्माता, जो शक्ति है वही उसकी शक्ति है, अतः उस स्वातन्त्र्यशक्ति के बल से अपनी रुचिके अनुसार विचित्र विश्व का निर्माण इच्छामात्र से सद्यः संपन्न करने में समर्थ होता है। भाव यह है कि परमेश्वर में जिस प्रकार ज्ञत्वकर्तृत्व ये दोनों शक्तियाँ अप्रतिहत हैं, इसी प्रकार पूर्वोक्त 'बीजावधान' में कहा—अवधान, और 'आसनस्थः' में कहा प्रवेश, इन दोनों उपायों के अनुशीलन के माहात्म्य से उस द्वैतरहित द्वादशान्त पद में विश्रान्त शिवयोगी भी अपनी इच्छा-नुसार वेद्य वेदकावभासनात्मक वस्तु-समूह-स्वरूप विश्व का अपूर्व नाम-रूपात्मक उल्लेखों का अवभासन कराने वाली अपनी कर्तृत्वा-दिशक्ति से निर्माण करने में समर्थ होता है। इस प्रकार का निर्माण ही इस शिवयोगी की स्वातन्त्र्यधामविश्रान्ति का सूचक भी है। इसी अभिप्राय को 'स्वमात्रा निर्माणम् आपादयति' इस सूत्र में व्यक्त किया गया है। अर्थात् देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण-शून्य, अहन्ता से रहित, मितमातृता से रहित, जो शिववत् जगन्माता है, इसलिये उस अपनी स्वमातृशक्ति के द्वारा जैसा रुचता है, तथा वह चिद् विभु योगी निर्माण करता है, आप ही माता बनता है, और मेयमान हाथ जोड़ कर खड़े हो जाते हैं, और ज्ञान, ज्ञेय उसकी शक्ति बन जाती है, यह है 'स्वमात्रा'। गुण, भूत, प्रकृति, माया, उपादान की उसे किसी प्रकार से अपेक्षा नहीं रहती। शीघ्र ही स्वात्मबल के अवलम्बन से शिववत् अनन्त विश्व-निर्माण और लय करने में वह समर्थ होता है ।। १८ ।।

परन्तु यह जो इस साधक का विद्यावपु है, यह विद्या भी एक मल है। इसके विनाश होने पर पुनर्जन्म का अभाव होता है—इसी को सब जानने वाले अन्तरात्मा प्रभु कहते हैं:—

विद्याविनाशे जन्मविनाशः ॥ १९ ॥

अशुद्ध विद्या का विनाश हो जाने पर जन्म-अज्ञानसहकृत-कर्म-हेतुक दुःखमय जो देहेन्द्रियादि बन्धन है, उसका भी विनाश सदा के लिये हो जाता है।

सोपाधिक होने से वेद्य कोटि में आने वाली, जो पदार्थमात्र-विषयिणी, विद्या है, पुनः संभव का कारण हो जाने से, उसे अशुद्ध विद्या कहा गया है। इस अशुद्ध विद्या का विनाश हो जाय, अर्थात् सहज विद्या का उदय निभालन ही आत्मा की परास्वातन्त्र्य अभिव्यक्ति है, और प्रत्यभिज्ञान है। उस स्वबल के आश्रय से पुनर्जन्म नहीं हो सकता। अतः अकाल-पद प्राप्त कराने वाली जो जीवन्मुक्ति है वह यही है।

तात्पर्य यह कि 'वृत्ति' रूप जो ज्ञान है, उसमें वस्तु का आकार प्रतिविम्बित रहता है, इसलिये वृत्तिज्ञान-वेद्य जो संसार है, तद्रूपफल का साधन होने से 'अशुद्ध विद्या' कही जाती है। यह अशुद्ध विद्या ही जन्मादिबन्धन में बाँधने वाली है। उसके विपरीत शुद्धविद्या का अर्थात् स्वस्वरूपचिद्रूपनिर्विकल्पबोध के अनुसंधान से, सहज संवित् की संप्राप्ति से स्ववीर्य-लाभ होने पर आणवमायीय इन दोनों मलों के साथ देह, इन्द्रिय आदि का संघात-रूप जो कार्यबन्धन है, यह भी सदा के लिये विनष्ट हो जाता है। अतः वह जीवन्मुक्त हो जाता है। उसका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ १९ ॥

अब कहते हैं बाह्यार्थ उपाधि से उपरञ्जित होने के कारण जो यह विद्या वेदनीयपरक हो जाती है। उसके प्रेरण में क्या हेतु है अर्थात् विद्या के वैभव में ही योगी क्यों उपरञ्जित होता है? क्या कारण है? इस पर अजन्मा महादेव कहते हैं:—

कवर्गाद्यादिषु माहेश्वर्याद्याः पशुमातरः ॥२०॥

कवर्गादि अष्टवर्गों की अधिष्ठात्री जो पशुजनों को मोहित करने वाली माहेश्वरी आदि मातृशक्तियाँ हैं, वे ही प्राप्ततत्त्वयोगियों को भी प्रमादावस्था में शब्दानुवेध द्वारा मोहित करके बाह्यार्थोन्मुख कर देती हैं।

सर्वात्मक शब्दराशि का जो कलामय स्वरूप पहले (प्र. १ सूत्र ३-४) कहा गया है कि शब्दानुवेध द्वारा बाह्यप्रत्ययोत्पादक होने से जो पशु प्राणियों को सर्वथा बहिर्मुख बना देता है, और इसलिये कि शब्दानुवेध बिना स्वशिवत्त्व की अभिव्यक्ति भी नहीं होती। वह दो प्रकार से कहा गया है। एक बीज और एक योनि। बीज स्वयं शिव हैं। माया नाम की शक्ति ही योनि है। इसके 'क' से लेकर 'क्ष' पर्यन्त आठ वर्ग हैं। इन आठों वर्गों में माहेश्वरी आदि आठ मातृकाएँ अधिष्ठित हैं, जो पर-अपर दो प्रकार का फल प्रदान करती हैं। इन आठ शक्तियों के तीन स्वरूप हैं। अघोर, घोर, और घोरघोरतर। ये 'घोर' रूप से पशुओं को बाह्यार्थ का अवबोध करा कर उनमें मिश्रकर्मफलों के प्रति आसक्ति उत्पन्न करती हैं, तथा 'घोरघोरतर' स्वरूप से विषयासक्तचित्त-पशुओं के अधोऽधः पात का कारण बनती हैं, और 'अघोर' स्वरूप से शिवत्व रूप पर-फल प्रदान करती हैं। इससे यह कहा गया है कि अघोर शक्ति से अधिष्ठित शब्दानुवेध बिना शिवत्व की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस प्रकार माहेश्वरी आदि अष्टशक्ति-समूह का प्रतिवर्ग अघोर, घोर, घोरघोरतर-इन तीन भेदों वाला है, इनमें पूर्ववर्ग अघोर में अपायरहित, शाश्वत, शिवत्व संस्थित है।

परावाक् शक्ति जो शिवाभिन्न स्वरूपा है, वह इच्छा, ज्ञान, क्रिया इस त्रिक को उत्पन्न करके, कवर्ग्यादिरूप मातृकाओं का समुन्मीलन करके पशु प्रमाता जब सविकल्प, संवेदनदशा में बहिर्मुख रहते हैं; उस स्थिति में उनके अन्तःकरण में मातृकाओं के विवर्तभूत स्थूल सूक्ष्म शब्दों का परामर्श कराती हैं, इसी को शब्दानुवेध कहते हैं। इसी शब्दानुवेध के समय वर्गाधिष्ठात्री माहेश्वरी आदि शक्तियाँ उन पशु प्रमाताओं में राग, द्वेष, काम, लोभ आदि वृत्तियों का विस्तार करती हैं, जिससे उनका

देहादि के साथ तादाम्यभाव ही बनकर दृढ़ हो जाता है। इससे उनकी अन्तःकरण की वृत्ति इन्द्रियों द्वारा बाह्यविषयों की ओर जब प्रसार करने लगती है, उस दशा में घोर, अघोर, घोरघोरतर आदि नाम वाली माहेश्वरी आदि मातृकायें विषयासक्ति के कारण स्वात्मविमुख पशुओं को संसार की अधरभूमिकाओं में गिरा देती हैं। परन्तु वे ही अन्तर्मुख यतिजनों के लिये जब अघोर रूप धारण करती हैं, अर्थात् अभेदरूप धारण करती हैं तब उनको स्वात्मविकास रस (विभिन्न रूपों से चमत्कृत करती हुई) समर्पण करती हैं। उनमें भेद-बुद्धि नहीं उत्पन्न करतीं अर्थात् अभेद का उत्थापन (उदय) करती हैं। जैसे "तत्त्वमसि" और विषयासक्त पशुओं के लिये "तुम तो वैंगनपुरी हो" तो जीवन पर्यन्त वैंगनपुरी ही मान बैठता है। यह शब्दसे ही छूटता है, शब्द से ही बँधता है ॥ २० ॥

"यह जो अघोर, घोर, घोरघोरतर मातृकाओं से अधिष्ठित त्रिस्वरूप अष्टवर्गज शब्द-राशि है, इसके भी आदि मध्य और अन्त तीन भेद हैं, निर्विकल्पपरारूप शिव ही इनका अधिष्ठान है। अतः उससे अभेद भावना के सिद्ध हो जाने पर यह शब्द-राशि भी शिव-स्वरूप होकर बन्धकारक नहीं होती"। इसी आशय को प्रकट करने के लिये सर्व आशयज्ञ महेश्वर कहते हैं कि—

त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम् ॥ २१ ॥

पूर्व सूत्रोक्त घोरादि अधिष्ठित विकल्पोद्बोधक त्रिप्रकार जो शब्द हैं, उनमें शुद्ध विद्या-प्रकाशरूप आनन्द-रसात्मक परशिव का आसेचन अभिन्नाधिष्ठान तथा भावना करने से तन्मयीभाव हो जाने पर शब्द राशि चिद्रसमय होकर वन्ध-कारक नहीं होती।

पूर्व सूत्र में निर्णीत जो घोरादि संज्ञक, पशुबिमोहक मातृकायें हैं, उनसे अधिष्ठित जो स्थूल, सूक्ष्म वर्णात्मक विकल्प हैं, उनके आदि अन्त में (जहाँ विकल्पाभासन ही है) अधिष्ठानरूप से प्रतीयमान जो चिन्मय विशुद्ध रस है, उसी रस से मध्य में भासमान विकल्पों को सिक्त

करते रहना चाहिये। ऐसा करने से भेदप्रथा गल कर चिद्रस में घुल मिल कर तन्मयी हो गई" इस प्रकार अनुसन्धान होते ही विकल्पों का बन्धनात्मक व्यापार समाप्त हो जायेगा और अनपायिनी अखण्ड चिद् रसानुभूति-रूपा सिद्धि प्राप्त हो जायगी।

वर्णात्मक प्रमातृभेदों को निम्नाङ्कित रूप से भी समझना चाहिये। यथा-अघोर घोराघोर और घोर। इसी को अभेद भेदाभेद और भेद रूप से तीन प्रमाता कहा गया है। "चिद् रूपोऽहं सर्वोऽयं ममैव विभवः" 'मैं चिद् रूप हूँ यह सब मेरा ही विभव है' यह अभेदानुभव 'अघोर शब्द से कहा जाता है। "जीवोऽहम् इदं सर्वं जगत् न मत्कृतम् अन्येनैव केनापि कृतम् ईश्वरेण वा निर्मितं तस्यैव विभवः तत्कृपातः किञ्चिद् मद्विभवः"। 'मैं जीव हूँ यह सारा जगत् मेरी रचना नहीं है, यह ईश्वर कृत हैं, उसी का वैभव है, उसकी कृपा से किञ्चिन्मात्र मेरा विभव है'। यह जो भेदाभेद अनुभव है, वह घोराघोर शब्द से कहा जाता है और "ईश्वराज्जगतश्च भिन्नोऽहं देहादिमात्रे देहादिरूपेणच अयमहमस्मि" 'मैं ईश्वर से और जगत् से भिन्न हूँ, मैं तो यह देहादि मात्र में देहादि रूप से ही हूँ' यह भेदानुभव 'घोर' कहा गया है। इस प्रकार ये शब्द ही आत्मा से अभेद, भेदाभेद, और भेद मात्र का बोध कराते हैं। स्थूल, सूक्ष्म शब्द-राशि द्वारा भेद, भेदाभेद, अभेद तीनों में जो चिद् रसमय अनुस्यूत शिवत्त्व है, उसी का अर्थात् "हंसःसोऽहम्" इसका अनुसंधान करे ॥ २१ ॥

इस प्रकार स्थूल सूक्ष्म व्यापक वर्णानुप्रवेश में क्या उपाय है? इस पर स्वात्माराम महेश्वर कहते हैं:—

मग्नः स्वचित्तो (न) प्रविशेत्* ॥ २२ ॥

स्व-स्वरूप जो चिद्रूप शिव है, उसमें निमग्न होकर तद्रूप से ही

*("मग्नः स्वचित्तेन प्रविशेत्" ऐसा पाठ शिवसूत्र वृत्ति में है। शिवसूत्रवार्तिक में भी व्याख्या इसी के अनुसार है। यथा—"एवंनिमेषवशतः शिवोभूत्वा स्वचेतसा। अङ्गार कल्पवर्णानां वह्निवच्चान्तरं विशेत्" इति। इससे प्रतीत होता है कि यहाँ भी 'स्वचित्तेन' यही पाठ है।)॥

अग्निवत् अङ्गार-स्थानीय मन्त्रादि रूप वर्णों में चिद्रूपाविष्टचित्त द्वारा प्रवेश करे। ऐसा करने से अग्नि के प्रवेश से अंगार जैसे अग्नि हो जाता है, उसी प्रकार मन्त्रादि भी शिव-भैरव स्वरूप होकर सर्वशक्ति-संपन्न हो जाते हैं।

अर्थात् बाह्य इदन्ता के उन्मुख होते समय चिन्नाथ की ज्ञान क्रिया-शक्ति उद्युक्त होकर प्रसार करने लगती है। उस समय चैतन्य की बाह्यार्थ-संस्पृष्ट प्रवृत्ति का उदय होने लगता है, सावधान योगी उस समय उन्मेषावस्था का प्रत्याहरण करके निमेषावस्था के अनुसंधान से अविकल्प संविद्रूप होकर अङ्गार-वह्निन्याय से वर्णानुप्रवेश करे तो संसिद्ध भैरव मुद्रा के द्वारा मन्त्रादि का अनुप्राणन भी हो जाता है।

चैतन्य की प्रवृत्ति के समय जो बाह्याकारता है, जिस क्रम से प्रवृत्ति हुई इसके विपरीत क्रम से उसका सम्यक् प्रतिसंहार हो जाने पर पूर्ववृत्ति-चिद्रूपता का उदय हो जाने से प्रवृत्ति का उपराम हो जाता है। इस प्रकार योगी निमेषावस्था (अन्तर्मुखता) में पहुँच कर शिवस्वरूप हो, तदाविष्ट-चित्त से अङ्गारतुल्य वर्णों के भीतर वह्निवत् प्रवेश करे, अनु-प्रवेश द्वारा सिद्ध भैरवी-मुद्रा से मन्त्रों का अनुप्राणन होता है। भाव यह कि सब वर्णों में अनुस्यूत अधिष्ठान चिद्रस के ही ये वाह्याभ्यन्तर स्थूल सूक्ष्मव्यापी भाव हैं। इसी को भैरव-मुद्रा भी कहते हैं। संपूर्ण विश्व का अर्थात् प्रमातृप्रमेय बहुविध विचित्रातिविचित्र जो विश्व है, इसका अधिष्ठान एक चिन्नाथ ही हैं, वह मैं हूँ, मैं ही भैरव हूँ, सब में मैं भरा हूँ सभी मेरा वैभव है। इस प्रकार परमानन्द से जो महामोह-दशा है, उसको मुद्रा कहते हैं। इस भैरव मुद्रा में अनुप्रविष्ट शिवयोगी सभी मन्त्रों का अनुप्राणन करता है अर्थात् वह सब मन्त्रों का स्वामी है। केवल मन्त्रों का ही नहीं, यावद् विश्व, स्वचित्त में अन्तर्भूत करने पर परकाय-प्रवेश भी इसके लिये सहज हो जाता है। जैसे कोई भी अंगार वह्नि नहीं है यह कैसे कहा जा सकता है? इसी प्रकार कोई भी चैत्य = दृश्य, द्रष्टाचेतन से भिन्न है, अर्थात् यह चिद्रूप नहीं है, यह कोई भी चेतनतत्व का ज्ञाता, कैसे कह सकता है? अतः मन्त्र चिद्रूप ही हैं ॥ २२ ॥

इस प्रकार वर्णमात्र की स्थिति = उच्चारण द्वारा अभिव्यक्ति पूर्व-अपर भाग में नहीं रहती। केवल मध्य में विकल्पात्मक स्थिति रहती है, तो उस विकल्पात्मक स्थिति से क्या होता है ? इस पर श्री महामहेश्वर कहते हैं —

मध्येऽवर प्रसवः ॥ २३ ॥

पशु प्रमाता के लिये मध्य में तत्-तत् विचित्र आकारों के सन्निवेश का स्फुरण होने से अवर=अधः पात के प्रसव=कारण वे वर्णादि हो जाते हैं।

उच्चारण के पूर्व उच्चिचारयिषा (उच्चारणेच्छा) जो है, यह वर्णो का आदि भाग है, उच्चारण के पश्चात् जो विश्रान्ति है, वह अन्त भाग है, इन दोनों स्थितियों में वर्णादि अविभक्त पश्यन्ती-पद में निलीन रहने से शिवरूप ही रहते हैं। मध्य में उन विभिन्न आकारों का स्फुरण होने से पशु प्रमाताओं के लिये अधिष्ठान शिवरूपता के आच्छन्न हो जाने के कारण, भेद-प्रथाजनक होकर भ्रंश के कारण बनते हैं, और यति, जो शिवयोगी है वह मध्य में भी वर्णादिकों में अपने शाक्तरूप का स्फुरण ही अनुभव करता है।

शिवयोगी के लिये जो अङ्गारवह्नि-न्याय से चिद्रूपव्यापी, स्थूल, सूक्ष्म, वर्ण, पद, मन्त्र हैं, इसलिये स्वशक्ति-रूप हैं। तत्तत् अर्थ क्रियाकारी पशु के लिये नहीं। उच्चार्यमाण वर्ण का तीन भाग करो। आदि, मध्य, अन्त। आदि में उद्बुभूषा अन्त में विश्राम, तो आदि में चिद् ही शिव है और अन्त में विश्राम शिव ही चिद्रूप, और मध्य में अर्थात् चिद्-रूप से व्यतिरिक्त आकाश-गुण, 'शब्द' मान लेते हो तब नीचे प्रसव हो जाता है, अर्थात् शिव चिद्-रस ही चैत्य-चेतनायमान है, इस परामर्श के विस्मृतिमात्र से शिवता से भ्रष्ट हो जाता है अर्थात् उनको (पशु प्रमाताओं को) मध्य कोटि में माने = तत्तत् विचित्राकार प्रमातृ-प्रमेय-सन्निवेश-स्फुरण को अविकल्पसंवित् से ही अङ्गारवह्नि न्याय से न जानकर माया-विमुग्ध पशु-प्रमाता, मायिक, प्राकृत, भूतज मानकर शिव, चिद्-रस से भ्रष्ट हो जाता है॥ २३ ॥

इस प्रकार तीनों-व्यापी, स्थूल, सूक्ष्म—वर्ण, पद, मन्त्रों में जिस प्रकार अङ्गारवह्निन्याय से परिपूर्ण समता होती है, उसी को पार्वती वल्लभ प्राणप्राण भगवान् शिव कहते हैं—

प्राणसमाचारे समदर्शनम् ॥ २४ ॥

महेश्वर की सर्वज्ञानक्रियाशक्ति ही 'प्राण' है, उसका परनाद रूप से वर्ण-पद-मन्त्रों में समाचार अर्थात् आवेश हो जाने पर समदर्शन अर्थात् तदभेदानुभव होता है, जिससे वर्ण-पद-मन्त्रादि सर्वज्ञान-क्रियाशक्ति से संपन्न हो जाते हैं।

चिद्-रस, शिव में सर्वज्ञान, सर्वक्रियास्वरूप जो सर्वोतम स्वसामर्थ्य है, वही प्राण है, उसको परनाद कहते हैं। सर्वप्राणों के अनुप्राणन में वह सक्षम है, उस प्राण का समाचार अर्थात् आवेश होने पर वर्णशब्द-ध्वनि में स्फुरित होते हुए सभी स्फुरणों को अङ्गार-वह्निन्याय से चिद्रस शिव से अभिन्न अनुभव करने को ही यहाँ समदर्शन कहा गया है। इस प्रकार शिवयोगीवत् वर्ण, पद, मन्त्र में अनुस्यूत चिद्रस के अभेद अनुभव से ही वर्ण, पद, मन्त्र, सर्वज्ञान, सर्वक्रियाकारी होते हैं, इसमें आश्चर्य क्या? क्योंकि वैखरीपर्यन्त पद, मन्त्र आदि रूप में फैले हुए जितने प्रकाश (शब्दरूप प्रकाश) हैं, उन सभी प्रकाशों का प्राणभूत परनादाख्य स्वतन्त्र प्रकाश ही है, इसलिये सभी प्रकाश उसके अन्तर्गत ही हैं, अर्थात् तद्रूप ही हैं, इस प्रकार परनादाख्य स्वतन्त्र प्रकाश (जो सहज सर्वज्ञान क्रिया-शक्ति संपन्न है) के साथ पदमन्त्रादिकों के अभेदाऽनुभव-धाराधिरूढ़ हो जाने पर उनको परवीर्य सर्वज्ञान-क्रियाशक्ति का लाभ हो जाता है।

अर्थात् शिवत्व का प्रत्यभिज्ञान और विश्व-स्वैश्वर्यप्रथन ही परवीर्य-लाभ है ॥ २४ ॥

अब वर्णानुप्रणन के निरूपण के पश्चात् प्रसङ्गवश भावशरीरादि का अनुप्राणन कैसे होता है ? इस विषय पर शम्भुनाथ कहते हैं—

मात्रा स्वप्रत्ययसंधाने नष्टस्य पुनरुत्थानम्-२५

मात्राओं में, पदार्थों में, स्वप्रत्यय का अनुसंधान करने पर अर्थात् "यह संपूर्ण विश्व मैं ही हूँ" इस प्रकार चिद्घन आत्मरूपता का अनुसंधान करने पर, अवर-प्रसव से नष्ट जो तुर्य चमत्कारमय स्व-भाव है, उसका पुनः उत्थान (उन्मज्जन) हो जाता है। अर्थात् योगी पुनः अपनी चिद्रसमयी-स्थिति को प्राप्त कर लेता है। यही भावशरीर का अनुप्राणन है।

भाव यह है कि माया-तत्त्व से लेकर पृथिवी पर्यन्त जो तत्त्व कलायें हैं, ये ही भूतशरीर के उपादान कारण हैं, इन तत्त्वकलाओं में स्वात्माभिन्न प्रत्यय का अनुसन्धान करके, इन्हें चिद्रसमयी बना लेने पर शब्दादि विषयों का आस्पद भावशरीर भी चिदानन्दघन-रसमय बन जाता है, उस दशा में योगी को सर्वकर्तृत्वादिशक्ति से आविष्ट होने का बल प्राप्त हो जाता है, जिसे प्राप्त करके वह सर्वत्र परिपूर्ण ज्ञान एवं सर्व-कर्तृत्वादिरूप परमैश्वर्य पद पर अध्यासीन हो जाता है।

अथवा-इस अनुसंधान के करने से, नष्ट हुए भूतभावों को कर्त्टधारा के आवेश-बल से जहाँ जैसा चाहे वैसा कर सकता है। उसकी सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता में कोई सन्देह नहीं, अर्थात् भूतभावात्मक संपूर्ण जगत् में चिद्-रस-अधिष्ठान के परिज्ञात होने पर सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता आवेश करने पर ही होती है। इसीलिये गीता में "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" ऐसा कहा गया है। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने भी पहले "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति" अ.१८/५४ में ब्रह्म भाव को प्राप्त योगी प्रसन्न मन रहता है, वह न तो किसी के लिये शोक करता है, न किसी वस्तु की आकाङ्क्षा ही करता है" ऐसा कह कर पुनः कहा "समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्" (अ.८१/५४) में सब भूतों में समभाव हुआ ही मेरी पराभक्ति, याने अविभक्त-भाव-रूपा परम सिद्धि को प्राप्त करता है।" यह पराभक्ति अङ्गारवह्निन्याय से अनुप्रवेश ही है, अनुप्रवेश हो जाने पर स्वभिन्न कुछ रह ही नहीं जाता। इसी को आगे कहा कि—

"भक्तया मामभिजानाति, यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा, विशते तदनन्तरम्॥ गीता अ. १८/५५

उस पराभक्ति के द्वारा मेरे को तत्त्व से भली प्रकार जानता है कि मैं जो और जिस प्रभाव वाला हूँ" तथा उस भक्ति से मुझ आत्मा को तत्व से जानकर तत्काल ही मुझ में प्रविष्ट हो जाता है, अर्थात् मुझ से तत्त्वतः अभिन्न हो जाता है, फिर उसकी दृष्टि में स्वात्मा से अभिन्न वासुदेव के सिवा और कुछ भी नहीं रहता।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं–कि शिवादि अवनि पर्यन्त संपूर्ण जगत् स्वाधिष्ठान चिद्घन की रसमयी विभूति है, यथा–"मुझवासुदेव की सारी विभूतियाँ हैं" "मेरे ही वश में संपूर्ण जगत् है" "मुझ से भिन्न क्षेत्रज्ञ कोई अन्य नहीं" तथा "क्षेत्रज्ञंचापिमां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत" [1] "अहमात्मा गुड़ाकेश सर्वभूताशयस्थितः" [2] इस प्रकार तत्त्वसमूह कलाओं को निज वैभव प्रदर्षित करते हुए प्रभु श्री गुरु भगवान ने 'अनुप्रवेशदशा' का ही प्रतिपादन किया है। "ततोमांतत्वतो ज्ञात्वाविशते तदनन्तरम्" [3] "ममसाधर्म्यमागताः" [4] इत्यादि अनुप्रवेश दशा का ही वर्णन है।

जो अनुप्रवेश के अनुभव से रहित हैं, वे कला-तत्वज्ञान रहित होने से पशु ही हैं। एतत्तत्वज्ञ शिव स्वरूप हैं, वे सब कुछ करने और जानने में समर्थ हैं। अङ्गार वह्निन्याय स्वरूप जो अनुप्रवेश है, उसका रहस्य जो तत्वज्ञान-अर्थात् स्वात्मतत्व के अपरोक्षानुभव का उपाय है, उसे सद्गुरुओं से जानना चाहिये। इसीलिये भगवान् ने निर्देश किया है– "तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन, सेवया। उपदेक्ष्यन्तिते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्व दर्शिनः [5]। तत्वबोध हो जाने पर ही तत्वातीत स्वात्मस्वरूप का प्रत्यभिज्ञात्मक निश्चय होता है। जबतक तत्वातीत, कलातीत, स्वशिवत्व को नहीं जानता; तबतक अपने को तत्वकला-विग्रह ही मानकर जीव पशु-क्लेशों का ही अनुभव करता है। अपने शिवतत्व को अभिज्ञात करके शिवशक्ति से कवलीकृत सदाशिव से लेकर धरणीपर्यन्त शुद्ध, शुद्धा शुद्धाशुद्ध अशुद्ध संपूर्ण विश्व को पूर्णसिद्ध, शिवयोगी अपना वैभव बना लेता

---

1 श्री मद्भगवद्गीता अ. १३/२ 2 श्री मद्भगवद्गीता अ. १०/२०
3 श्री मद्भगवद्गीता अ. १८/५५ 4 श्री मद्भगवद्गीता अ. ४/१०
5 श्री मद्भगवद्गीता अ. ४/३४

है। "मात्रा स्वप्रत्यय-संधाने नष्टस्यपुनरुत्थानम्" इस सूत्र का यही तात्पर्य है* ॥ २५ ॥

जो इस प्रकार नित्ययुक्त साधक है, वह कैसा होता है ? इसपर गौरीकान्त कहते हैं—

शिवतुल्यो जायते ॥ २६ ॥

तुर्यपद के परिशीलन के प्रकर्ष से साधक तुर्यातीत को प्राप्त करके स्वच्छ-स्वछन्द-चिदानन्दघन भगवान शिव के समान हो जाता है, अर्थात् देहकला के रहने पर भी शिव के समान जीवन्मुक्ति-सुख का आस्वादन करता है, प्रारब्धकर्म की समाप्ति पर देह के विगलित हो जाने पर साक्षात् शिव ही हो जाता है।

सभी कारणों का आदिकारण यदि ढूँढ़ा जाय, तो एक मात्र शिव ही आनन्दचिद्, सन्मात्र, सर्वोपरि, निगमागम-प्रसिद्ध ठहरता है। उपाधिरहित चित्स्वरूप-ज्योति ही शिवतत्व है। देहाश्रित सर्वचेष्टा करता हुआ भी नित्ययुक्त होने से शिवतुल्य होता है, अर्थात् ज्ञानबल से शिव के समान जीवन्मुक्ति का सुखास्वादन करता है।

तात्पर्य यह है कि नित्ययुक्त साधक निरन्तर शिवस्वरूप का ही स्वात्मरूप से अतिशय परिशीलन करता है, अतः वह शिवपद को प्राप्त कर लेता है, अतएव देहके रहने पर भी वह जीवन्मुक्ति-सुखका आस्वादन करता है। भेद इतना ही रहा कि इस साधक का प्रारब्धप्राप्त-देह से सबन्ध है, और शिव का नहीं। अतः तद्भिन्न तद्गत भूयोधर्मवान् होने से शिवतुल्य कहा गया। प्रारब्ध कर्मों से उपस्थापित भोगों के समाप्त हो जाने पर विदेहमुक्ति दशा में तो शिवतादात्म्य को प्राप्त होकर वह एकमेव अद्वितीय चिदानन्दघन शिव ही हो जाता है ॥ २६ ॥

---

*शिवसूत्रवृत्ति में—"मात्रासु स्वप्रत्यय संधाने नष्टस्यपुनरुत्थानम्" ऐसा पाठ है। तथा पाठक्रम में—इसके पूर्व 'मध्येऽवरप्रसवः' यह सूत्र है, और 'मध्येऽवर प्रसवः' के पूर्व 'प्राणसमाचारे समदर्शनम्' का पाठ है।

इस प्रकार शिवत्व का अभ्यास करते हुए शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि के व्यवहारकाल में उसकी नित्ययुक्तता किस प्रकार रहती है ? इसपर भगवान् आनन्दकन्द उमासहाय उसके व्रत का याने व्यवहार का निरूपण करते हैं:—

शरीरवृत्तिर्व्रतम् ॥ २७ ॥

उक्त प्रकार से शिवाहंभाव से वर्तमान योगी का शरीर में रहना ही व्रतनियम है अर्थात् बाह्य उपकरणों के बिना ही उसका पाशुपताख्य महाव्रत शरीरमात्र, से ही स्वतः सिद्ध है।

उक्त प्रकार से शिवाहंभाव का परिशीलन करने वाले शिवयोगी का पाशुपताख्य महाव्रत स्वतः सिद्ध है। जिस में कङ्काल, कपाल, दण्ड, पञ्चमुद्रा, भस्म, उपवीत, ध्वज, भूषण, निवास, विहार आदि संपूर्ण सामग्री अव्यक्त रूप से शरीरान्तर्गत द्रव्य ही का उपयोग होता है। व्यक्त-लिङ्गी धर्मध्वजियों के समान बाह्याडम्बर का उपयोग वह नहीं करता, जिसमें मलकालिमा से उपलिप्त होना पड़ता है।

शिव के उपकरण कङ्काल, कपाल, खट्वाङ्ग, भस्म आदि माने जाते हैं एवं शिवयोगी का शरीर ही कङ्काल है, इसपर शिरोभाग में स्थित कपाल ही कपाल है, पृष्ठ का जो मेरुदण्ड है वही दण्ड है (खष्ट्वाङ्ग है) कर, पाद, गला में स्थित जो अस्थिखण्ड हैं येही पञ्चमुद्रा, और सारे शरीर में जो परादीप्ति याने अङ्गार-वह्नि-न्याय से आविष्ट चिदग्नि की उज्ज्वल दीप्ति है, वही भस्म है। गुणत्रय, मन, बुद्धि, अहंकार ही सुन्दर यज्ञोपवीत, और महापथ (पृथ्वी से लेकर शिव तक यही महापथ) ही ध्वजा खड़ी है। सारी इन्द्रियाँ भूषण हैं। इन इन्द्रियों की विषयों में जो व्यवहृति है, अर्थात् इन इन्द्रियों का प्रयोजन विषय दर्शन में परिसमाप्त होता है, इसी प्रकार भूषण शोभामात्र प्रदर्शन में हेतु होने से इन्द्रियों को भूषण कहा गया है। इनकी विषय प्रवृत्ति ही विहार है। जिस चिद्हृद् में इन सबकी एकरसता होती है, वही वास्तव श्मशान है, जैसे श्मशान-सेवी शिव श्मशान सेवन करते हैं "श्मशानेष्वाक्रीड़ा" तथा इस शिव-योगी का जो हृदयबोध (हृदयोबोधपर्यायः) उस बोधरूपी श्मशान में

"जहाँ बोध्यवर्ग भस्म हो जाता है" सदा आसक्ति रहती है। शरीर, वाणी, मन (अन्तःकरण बहिःकरण) का जो स्फुरित होने वाली चेष्टा परिस्पन्दन है, व्यवहार है, वही इस वीरेश का नित्योत्सव है। यह जो निरर्गल स्वतन्त्र स्थिति है यही शिवयोगी का महाव्रत है ॥ २७ ॥

इस प्रकार के महाव्रती योगी का जप किस प्रकार का होता है ? इसपर महायोगी महेश्वर कहते हैं:—

कथाजपः ॥ २८ ॥

महामन्त्रात्मक अकृतक जो "अहमेवपरोहंसः शिवः परमकारणम्" इस प्रकार का अहंविमर्श है, तदारूढ़ योगीका जो कुछ कथन है वह सभी निरन्तर आवर्तमान (अभ्यस्यमान) स्वात्म-देवता-विमर्शन रूप जप है।

इस प्रकार इस महाव्रती वीरेश (जो पराहंभाव की भावनाभूमि में अधिरुढ़ है) का शाक्त, निष्कल, हंस, और पौद्गल इन चार प्रकार के मन्त्रों का जिन मन्त्रों का सारार्थ-परचिद्रूप जो स्वात्मदेवता है उसका परामर्शन है, जप (आवर्तन) अनवरत अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है।

अर्थात्-शुद्धकर्ता की भूमि पर अधिरूढ़-अतएव प्रबुद्ध होकर यह शिवयोगी जो भी कुछ भाषण करता है, इस महाव्रती का वही जप है। इस जप के कारण ही वह पुरुषोत्तम होता है। परवीर्य के अवलम्बन से अङ्गार-वह्निन्याय से, चिद्विमर्श के आवेश से युक्त जो सूक्ष्म-स्थूल उच्चारण है वही जप है। इस प्रकार यह जप चार प्रकार का जानना चाहिये। शाक्त, निष्कल, हंस और पौद्गल। इन में चैतन्य की जो स्व-अहं क्रिया है—पूर्णाहन्ता स्वरूप है—यही शाक्त जप है। प्रणवाङ्गस्थ जो लक्ष्यार्थ-भावना है—वह निष्कल जप है तथा नादरूप कलात्मक जो जप है, वही 'हंस' संज्ञक है, और जो २१६०० श्वास-प्रश्वासात्मक वायुरूप निरन्तर (जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति सभी अवस्थाओं में अविच्छिन्न) चलता रहता है, यही पौद्गल=जीवसंज्ञक, जप है ॥ २८ ॥

अब इस प्रकार का व्रतजप-परायण, ज्ञानवान्, सिद्ध महापुरुष किस दान से शोभा पाता है ? क्योंकि बिना दान दिये मनुष्य की शोभा नहीं होती। इसपर कल्याण करने वाले प्रभु शंकर कहते हैं:—

दानमात्मज्ञानम् ॥ २९ ॥

'आत्मस्वरूप का ज्ञान कराना' यही इस महाव्रती का दान है। आत्मस्वरूप की जो प्रज्ञप्ति है, वही सर्वश्रेष्ठ उत्तम ज्ञान है, जिसको पूर्व कह आये हैं, आगे भी कहेंगे, इसी उत्तम ज्ञान का सम्यक् प्रकाशन जो पूर्ण कृपापात्र प्रबुद्धजन हैं, उनके प्रति प्रकट करना, यही उत्तमज्ञान-दान ही शिवयोगी का दान है। इस ज्ञान-दान से ही पशु (बद्ध) जनों के पाशों का सम्यक् रूप से क्षपण होता है, अतएव सर्वोत्तम (सार्थक) दीक्षा भी इसी को कहते हैं ॥ २९ ॥

इस प्रकार शिवता को प्राप्त स्वरूपस्थ शिवयोगी ही ज्ञानोपदेश द्वारा बन्ध-मोक्ष करने में समर्थ है—इस विषय पर दयासागर महेश्वर कहते हैं:—

योऽविपस्थो ज्ञाहेतुश्च* ॥ ३० ॥

जो शिवयोगी अवि=पशुजनों को मोहित करके उनके पशुत्व की रक्षा करने वाला जो घोर, घोरघोरतर संज्ञक माहेश्वर्यादि मातृवर्ग है, उसका अधिष्ठाता प्रभु है, अतः उसे नियन्त्रित करके 'अघोर' रूपता प्रदान करने से वह ज्ञानशक्ति का हेतु है। अतः उपदेश योग्य कृपापात्र अन्तेवासियों को वह ज्ञानशक्ति द्वारा बोध कराने में सक्षम है। क्योंकि सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह (तिरोधान) अनुग्रह का परम कारण शिव ही है, अतः तत्पदप्राप्त अनुग्रहमूर्ति शिवयोगी अनुग्रह के लिये ही है।

---

*शिव सूत्र वृत्ति में "योऽविपस्थो ज्ञानहेतुश्च" ऐसा ही पाठ है तदनुसार उपर्युक्त व्याख्या की गई है। शिवसूत्र वार्तिक में खण्डाकार 'ऽ' रहित—

इस प्रकार सर्वशक्ति-संपन्न सर्वविश्व को अपना आकार समझने वाला जो योगी, उसका स्व-संवित्शक्तिविकास ही जगत् है—इसपर दीनबन्धु महादेव कहते हैं:—

स्वशक्ति प्रचयोऽस्यविश्वम् ॥ ३१ ॥

इस शिवतुल्य योगी का "शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नम्" इसके अनुसार अपनी संविद् रूपाशक्ति का 'प्रचय' याने क्रियाशक्तिस्फुरण रूप विकास-ही संपूर्ण विश्व है।

भाव यह कि "जिस प्रकार यह संपूर्ण विश्व शिव की जो अनुत्तर-शक्ति अर्थात् सर्वकारणभूता शक्ति है, तन्मय ही है, उसी प्रकार यह योगी जो शिवतुल्य कहा गया, उसकी जो स्व-संविद् शक्ति है, उसका विचित्र नवनवोल्लास स्पन्दमय जो क्रियाशक्ति का स्फुरण है तद्रूप विकास ही विश्व है। क्योंकि बहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय के विषय-रूप में विस्तार को प्राप्त, यावत् नील-सुखादि वेद्य समूह है, वह सब का सब चैतन्य प्रकाश रूप भित्ति पर ही आभासित है, अन्यथा उसकी स्वयं सत्ता उपपन्न ही नहीं हो सकती, इसलिये उस योगी की स्व-संविद् ही तत् तद्

"यो विपस्थो ज्ञाहेतुश्च" ऐसा पाठ है, तदनुसार व्याख्या की जा रही है। इस सूत्रको व्यस्त एवं समस्त रूपसे व्याख्येयता की दृष्टि से भगवान् महेश्वर ने कहा है—यथा "यो = योनिः, वि = विश्वस्य, प = परः शिवः एवप्रभुः स्थाः = स्थितः, ज्ञा = ज्ञानक्रियात्मा, हे = हेयस्य, तु = तुच्छी-करण हेतुः, अतः तत्पदस्थः—यो = योगी, विपस्थः = विश्वरूप-पद-स्थः, ज्ञा = ज्ञान पूर्वकः, हेतुः = भोगस्य मोक्षस्य प्रकृष्टः हेतुः" इति बोधितम्। अर्थात्—"विश्व के कारण परात्परप्रभु शिव ही हैं, ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति उनकी आत्मभूताशक्ति हैं, अतः शिव ही हेय अर्थात् दुःखरूप जगत् के तुच्छीकरण का कारण हैं। इसलिये उस शिवपद पर स्थित योगी विश्व-रूप-पदस्थ होकर ज्ञानदान द्वारा अधिकारी कृपापात्र के लिये भोग और मोक्ष का प्रकृष्ट अनन्य कारण है" ऐसा कहा गया ॥ ३० ॥

वैचित्र्यपूर्ण विश्वरूप में स्वमनोरथ की भाँति सर्वत्र प्रस्फुरित होती है। शक्ति-शक्तिमान् में अभेद होने से स्वात्म शिव ही जगद् रूप में विभासमान होता है" ॥ ३१ ॥

इस प्रकार सर्वसृष्टि का कर्ता यह (आत्मा) स्थिति और लय भी करता है–इसपर त्रिपुरान्तक भगवान् शंकर कहते हैं:—

स्थितिलयौ ॥ ३२ ॥

स्वशक्ति-प्रचय जैसे विश्वरूप है, वैसे ही स्थिति एवं लय स्वरूप भी है। क्योंकि शक्ति का बहिर्मुखत्वावभासन ही सृष्टि एवं स्थिति है, तथा चिन्मात्रप्रमाता में विश्रान्ति प्रलय है।

इस प्रकार सर्वशक्तिमान् चिदात्मा अपनी क्रियाशक्ति से उन्मीलित विश्व की अपनी ही इच्छाशक्ति से स्थिति एवं प्रलय भी करता है।

शक्तितत्त्व पर्यन्त तत्तत् पदों के अध्यक्ष जोजो अनाश्रितादि प्रमाता हैं, उन उन की अपेक्षा अपने से अधरस्थ विश्व का तत्तत् परार्धकाल अर्थात् जो उनका आयुष्काल है तावत पर्यन्त बहिर्मुखत्वेन अवभासन ही स्थिति है, और स्वसै ऊपर के पद की निमेषावस्था में तो उससे अधः स्थित स्व का भी विलय हो जाता है, अपने से अधस्तन विश्व के विलय के विषय में तो कहना ही क्या? इस प्रकार चित् जो प्रमाता है उस में सभी तत्त्वों की विश्रान्ति ही लय है, इसलिये अवभासमान स्थिति और लय दोनों ही चिदात्मशक्ति के प्रचयरूप ही हैं। क्योंकि यावद् वेद्य समूह है, वह चाहे निमीलयमान = लयावस्था में हो, अथवा उन्मीलयमान = स्थिति-दशा में हो, दोनों अवस्थाओं में संवित्‌शक्ति का स्फुरणरूप ही है, अन्यथा संवित् प्रकाश के बिना उनका प्रकाशन ही असंभव है। अतः "सृष्टि की भाँति स्थिति लय भी शक्तिप्रचय-रूप ही हैं" ऐसा कहा गया "स्थितिलयौ" ॥ ३२ ॥

सृष्टि, स्थिति, ध्वंस, काल में भी इस योगिराज की स्वात्मस्थिति कैसे रहती है ? इसपर शास्त्रार्णव सर्वसंशयों का हरण करने वाले महादेव कहते हैं:—

तत्प्रवृत्तावप्यनिरासः संवेत्तृभावात् ॥३३॥

तत्प्रवृत्तौ = याने सृष्टि स्थिति ध्वंसादि पञ्चकृत्य में प्रवृत्त होने पर भी जो संवेतृभाव है, उससे योगी पृथक् नहीं होता।

अर्थात् सृष्टयादि कार्य में व्यापृत होने पर भी शिवयोगी स्वस्वरूप संविद् से कभी च्युत नहीं होता। क्योंकि उसकी संवेतृता का अभाव कब होता है ? अर्थात् कभी नहीं। सृष्टि, स्थिति, लयादि रूप जो कार्य हैं, जोकि प्राणियों की अपेक्षा करके होते हैं, इनमें प्रवृत्त हुआ भी योगी-ज्ञप्ति-स्वरूप में होने से कभी भी प्रज्ञेय नहीं हुआ। किसी भी अवस्था में अवस्था का अधिष्ठान ही रहा, जिस प्रकार विश्व व्यापार में अविचल अखण्ड वह परमशिव है, उसी प्रकार यह शिवयोगी भी।

भाव यह है कि सृष्टयादि के उन्मीलन होने पर भी योगी की चिद्रूप-स्वभाव में स्थिति, तुर्य चमत्कार का विमर्शरूप जो सवेतृभाव है, उससे पृथक् किसी भी दशा में क्षणमात्र के लिये भी नहीं होती। पञ्चकृत्यकारी जो चिदात्मा है, उसका तत्तद् विभिन्नकृत्यों के रूप में जो उल्लास है, वह उसका अपना ऐश्वर्य ही है, उसे प्रकट करता हुआ वह विनश्यत्स्वभाव वाले जो दृश्यात्मक भाव हैं, उनके पूर्व एवं पर कोटि में "जहाँ दृश्यों की उन्मीलन दशा नहीं रहती" चमत्कारी रूप में नित्योदित रहकर स्वयं को उनके साक्षी रूप में व्यक्त करता रहता है। इस प्रकार अविनाशी अवस्थातास्वरूप जो साक्षी आत्मा है, उसकी विविध अवस्थायें ही जो नष्ट और उत्पन्न होती हुई बार-बार बदलती रहती हैं, न कि उस अवस्थाता का विनाश होता है। यदि अवस्थाता का भी उनउन अवस्थाओं के साथ विनाश हो जाय, तब तो असाक्षिक होने के कारण उनका उद्भव एवं विलय भी असिद्ध हो जाय इसी अभिप्राय से कहा गया है कि "तत्प्रवृत्तावप्यनिरासः संवेतृभावात्" इति ॥ ३३ ॥

इस योगी के लिये सुख और दुःख कैसे होते हैं ? इसपर असंग शिव भगवान् कहते हैं:—

सुख दुःखयोर्बहिर्मननम् ॥ ३४ ॥

योगी वेद्य संस्पर्श से उत्पन्न सुख और दुःख को अपने से बाहर= अपने से असंबद्ध-नीलादि की भाँति 'इदन्ताभासरूप' मानता है। सामान्यजन की तरह अहन्ता का अनुभव संस्पर्श रूप से नहीं करता। क्योंकि उसका पुर्यष्टक से संबद्ध प्रमातृभाव समाप्त हो गया होता है अतएव वह सुख दुःख से संस्पृष्ट ही नहीं होता।

अदिव्य = लौकिक विषयों में रस लेने वाले पशु-प्रमाता को सांसारिक प्रिय विषयों के स्पर्श से, यद्वा उनकी प्राप्ति से, होने वाला बाह्य अथवा आन्तर जो अनुभव होता है, वही उसके लिये सुख माना गया है, अर्थात् प्रिय-स्पर्श अथवा तत्प्राप्ति से उत्पन्न आनन्दमयी अन्तःकरणवृत्ति सुख है और उसकी अप्राप्ति अथवा अप्रिय की प्राप्ति से उत्पन्न अनानन्दमयीवृत्ति दुःख है। वह दुःख आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक भेद से तीन प्रकार का है तथा तम, मोह, महामोह, तामिस्र, और अन्धतामिस्र भेदसे पाँच प्रकार का होता है। इनके अतिरिक्त भी दुःखके अनन्त भेद हैं। अष्टधाप्रकृति, पञ्चमहाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार इनको जो अपने होने का निश्चय है, इसको 'तम' कहते हैं, "देहादि में मैं हूँ" यह 'तम' है, और "देह ही मैं हूँ" यह देहात्मभाव मोह है। "बाह्य स्त्री पुत्रादि को आत्मरूप मानना, यह महामोह है। "आत्मीय कुटुम्बादि को बाधा पहुँचाने वाले के प्रति अमर्षकरना, अर्थात् क्रोध करना" यह 'तामिस्र' है और "अमर आत्मा को मरणमय होना" यह पाँचवाँ अन्धतामिस्र है। इनके मिश्रण से तथा अन्योन्य भेदों से यह दुःख अनन्तानन्त रूप धारण करता है। ज्ञानी में देहादिविषयक अहन्ता, ममता नहीं रहती, चिदानन्दघन शिव ही मैं हूँ" इस प्रकार का स्वात्मविमर्श उसका दृढ़ रहता है, अतः उक्त अनन्तभेद वाले सुख दुःख प्रकट होकर भी, उसकी दृष्टि में 'नीलादि' बाह्य विषय के समान ही प्रतीत होते हैं, इसलिये उसके चित्स्वरूप को आवृत नहीं करते। क्योंकि पशुप्रमाता

की भाँति वह अहन्तमभाव से अभिभूत नहीं होता, वह अहन्ता-ममता के स्पर्श से रहित होता है ॥ ३४ ॥

वे बाह्य मनन से जब अन्तर-आत्मा में प्रवेश नहीं करते उस समय बाह्य अभ्यन्तर मननीय मनन को छोड़ कर मन्तृ-स्वरूप की अख्याति-दशा होती है, तब उस योगी की कैसी स्थिति होती है ? इसपर आत्मनाथ कहते हैं:—

तद्विमुक्तस्तु केवली ॥ ३५ ॥

सुख दुःख एवं तत्कृत मोह से विमुक्त विशेणषेमुक्त अर्थात् उनके संस्कारमात्र से भी असंस्पृष्ट-होने से योगी का स्वात्मविभव विलुप्त नहीं होता, इसलिये वह केवल चिन्मात्र जो परप्रमाता का स्वरूप है, उसमें विश्राम करता हुआ योगफल जो स्वात्मशिवत्वप्रत्यभिज्ञान है और तत्सदैश्वर्यविश्वविभव है उसका अनुभव करता है। उसको मूढ़भाव होता ही नहीं।

ज्ञानी को वेद्यस्पर्श जाति वाले बाह्य नीलादिक के सदृश इदन्ताभास रूप से सुख दुःख का संवेदन, मनन होता है। लौकिक पशुओं के समान अहन्ता के अन्तर्भूत न होकर अहन्तासंस्पर्शवर्जित योगी की स्थिति होती है, नीलपीतादि बहिः और सुखदुःखादि अन्तर पुर्यष्टकनद्ध पशुसदृश "अहंदुःखी, अहंसुखी" ऐसा संवेदन योगी को नहीं होता। क्योंकि योगी पाशान्त-पुर्यष्टकभाव वाला होता है, अतः पुर्यष्टक संबन्ध से होने वाला सुख दुःख योगी को स्पर्श नहीं करता। इसी को दृढ़ करने के लिये यह सूत्र (तद्विमुक्तस्तु केवली) कहा गया है।

अर्थात् वह सुख दुःख से विमुक्त उसके संस्कार विशेष से भी असंस्पृष्ट केवली केवल चिन्मात्र प्रमाता होता है।

निराश्रितः शून्यमाता, बुद्धिमाता सदाशिवः।
प्राणमातेश्वरः, शुद्धा-विद्या स्याद्देह-मातृता ॥

प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता से रहित जो शून्य है, उसका माता निराश्रित

शिव है, और बुद्धि-उदय होने पर सर्वबुद्धियों का माता सदाशिव है। सर्वप्राणों का माता ईश्वर है, और देहमातृता 'शुद्ध विद्या' है। अहन्ता इदन्ता के ऐक्यज्ञान को शुद्ध विद्या कहते हैं। निराश्रित 'शिव' शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, विद्येश्वर, मन्त्रमहेश्वर ये सब प्रमाता अपने शरीर को किस प्रकार से जानते हैं? अर्थात् संविद्‌रूप जानते हैं। जब देह को भी संविद् रूप जानता है, तब बोध पूर्ण हुआ। अर्थात् वेद्य वेदन, संवित् का ही बहिर्मुखीभाव है। वेदक का बहिर्मुखभाव वेदन और वेदन का बहिर्मुखीभाव वेद्य। जब वेदक ही स्व-स्वरूप से च्युत हुए बिना, वेदनवेद्यरूप धारण किया है, तब सब चिन्मात्र ही हुआ॥ ३५॥

अब मूढ़भावाच्छन्न होने पर क्या होता? इसपर महेश्वर महादेव कहते हैं:—

मोहप्रतिसंहतस्तु कर्मात्मा ॥ ३६ ॥

जब मोह अर्थात् अविद्या से व्याप्त होकर देहादि में आत्माभिमानी हो जाता है, तब तो देहावयव जो इन्द्रियाँ हैं उनके द्वारा तत्तत् विचित्र कर्मफलों के प्रति आसक्ति-पूर्वक अभिलाषी बनकर शुभ, अशुभ, मिश्रकर्मों को सम्यक् करता हुआ नानाविध देव, नर, तिर्यक्, पशु आदि योनियों में संसरण करता है। उस समय वह अपने चिदाकाशैकरूप आत्म-स्वरूप को भूल कर अथवा छिपाकर 'कर्मात्मा' हो जाता है।

"सुखासुखयोर्बहिर्मननम्" इस पूर्वसूत्र की व्याख्या में 'तम, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र' जो अविद्यापर्व कहा गया है, उसी को यहाँ "मोह-प्रतिसंहतस्तुकर्मात्मा" (इस सूत्र में) कहा। महामहेश्वर कहते हैं–"मोह, जो महामूर्खता है, जिसका दूसरा नाम है 'अनुद्योग,' तीसरा नाम है 'अविद्या,' चौथा है 'जड़ता,' पाँचवाँ है 'आवृति' याने 'आवरण,' छठा है 'अविवेक,' सातवाँ है 'मूर्छा,'। एवमादि अनेक पर्यायों से इसी मोह का ही वैभव कहा गया है। इसी महामूर्खता से ही शरीरादि में अहंभाव का विजृम्भण होता है। उस देहाहंभाव से निरन्तर व्याप्त

होकर 'पूर्णात्मा' सीमित होकर 'कर्मात्मा' बना है अर्थात् 'ऋतुन्याय' से जैसा शुभ, अशुभ, मिश्रकर्म करता है, उसी प्रकार पशु के समान वह उससे बँध कर उस समय अपना जो पूर्णत्त्व है, उससे वञ्चित होकर अभेदाख्याति रूप जो भेदावभासित्त्व है, उसी को सत्य मानने लगता है। अर्थात् भेद को सत्य मानता है ॥ ३६ ॥

मोह के होने पर तो अहन्ता इदन्ता रूप हथकड़ी बेड़ी सदा ही लगी रहती है, परन्तु यदि तद्उद्वेष्टनक्रम से (जैसे फैलाई हुई दुकान फिर समेट ली जाय, उसी क्रम से) वास्तविक जगत्कर्तृ-भूमि का आश्रय करके प्रबुद्ध हुआ शिवस्वरूपयोगी जब नित्य, निजस्वरूप में स्थिर होकर भेद का तिरस्कार कर देता है, तब उस में कौन सामर्थ्य अभिव्यक्त होता है ? इसपर परमशिव कहते हैं:—

भेद-तिरस्कारे सर्गान्तरकर्मत्त्वम् ॥ ३७ ॥

शरीर, प्राण आदि में अहन्ताभिमान रूप जो भेद प्रथा है, उसका चिद्घन जो स्वभाव है उसके उद्बुद्ध हो जाने से जब तिरस्कार हो जाता है, अर्थात् सर्वाहंभाव से जब भेद का अभाव हो जाता है, तब योगी में अपनी इच्छा के अनुसार सृष्टि (निर्मेय के) निर्माण की शक्ति अभिव्यक्त हो जाती है।

अर्थात् 'बोधस्वरूप होने से आत्मा ही सब कुछ है' इस प्रकार का शुद्ध बोध उदय हुआ तब "भिन्नं नेहास्ति किञ्चन" 'आत्मा से भिन्न कुछ नहीं' ऐसा जानता है, तब तो वह विश्वमाता हो जाता है। विषयों की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों दशाओं में वह अपने अज, अव्यय-स्वरूप को जान कर उसी में निश्चलभाव से स्थित रहता है, इसलिये दोनों दशायें उसके लिये समान ही रहती हैं। इस प्रकार भेद का तिरस्कार हो जाने पर आत्मा ही सृज्य विषयों के साथ एकाकार हो जाता है अर्थात् चिदात्मा ही इच्छा द्वारा विषयों का कर्ता और स्वयं तद्रूपग्रहण करने से विषयरूप कर्म भी वही होता है। इस प्रकार वह अपनी रुचि के

अनुसार सर्गान्तर अर्थात् सामान्य सृष्टि से विलक्षण वैचित्र्ययुक्त नव-नव संस्थानादियुक्त सृष्टि-निर्माण में स्वतन्त्र एवं समर्थ होता है।

तात्पर्य यह है कि शिवयोगी का हृदय शिवशक्तिपात से आबिद्ध होता है, इस कारण वह कर्मबन्धन को खोलने के लिये शिवयोग का समाश्रयण करके बन्धमुक्त एवं प्रबुद्ध होकर परमशिवस्वरूप जो आत्मभाव है उससे व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं देखता। इसलिये देह आदि में अहन्तात्मक जो सकलप्रलयाकलादि प्रमाता हैं, तदाश्रित भेदाभास को अपनी पूर्णाहन्ता में निगीर्ण करके तिरस्कृत कर देता है। इस प्रकार का यह शिवयोगी स्वस्वरूप की प्रत्यापत्ति से उसमें निश्चल भाव से स्थित होकर, पर जो शैवशाक्तबल है, उसे प्राप्त कर लेता है, जिससे उसे मन्त्र तथा मन्त्र-महेश्वर आदि प्रमाताओं का महावैभव (सामर्थ्य) प्राप्त हो जाता है, और वह स्वेच्छा (शिवेच्छा) अनुसार ही नवीन-नवीन आकृतियों एवं सन्निवेशों से युक्त विविध, वैचित्र्यपूर्ण अपूर्व सर्गों के निर्माण में समर्थ हो सकता है ॥ ३७ ॥

शिवयोगी अपूर्व सन्निवेशादियुक्त नव-नव विलक्षण सृष्टि करने में स्वतन्त्र होता है—इसमें क्या हेतु है ? इसपर सुराधीश महेश्वर कहते हैं—

करणशक्तिः स्वतोऽनुभवात् ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार संकल्पस्वप्नादि में उन-उन असामान्य वस्तुओं का निर्माण जनसाधारण के लिये भी स्वानुभवगम्य है, उसी प्रकार योगी के लिये अकृत्रिम परवीर्य के आश्रयण से स्वेच्छानुसार निर्माण करना असंभव नहीं।

यहाँ शक्ति का अर्थ है—सर्गान्तर अर्थात् 'सामान्य से विलक्षण 'सृष्टि' के उत्पादन का सामर्थ्य, जो अकृत्रिम आत्मबल के आश्रयण से इन्द्रियों में देखा जाता है' वह स्वानुभव सिद्ध है। जैसे एक शरीर में बुद्धि, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय एवं सर्वशरीर में अभिव्याप्त आत्मबल के स्पर्श से ही बुद्धि, मन, बुद्धीन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों द्वारा ज्ञानक्रिया का

संपादन होता है, एवं परमशिव के सदृश शिवयोगी जब चिद्व्यतिरिक्त माया, प्रकृति, गुण, भूत-भेद का तिरस्कार कर देता है, तब वह नव नव सृष्टि निर्माण में समर्थ होता है, इसी आत्मबल को अकृत्रिमबल कहते हैं। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि का जो बल है, वह आत्मबल के आश्रयण का ही फल है, इसलिये अकृत्रिम आत्मबल, चित्स्वरूप अभिज्ञात होने पर सम्पूर्ण विश्व में अभिव्याप्ति से वह महान् सामर्थ्य वाला सब कुछ कर सकता है, इसलिये सत्यधरारूढ़सद्योगी जैसा-जैसा कार्य करने की इच्छा करता है, परम समर्थ होने से वह अपने संकल्प को उसी रूप में परिणत कर ही देता है, "तादृशं प्रकरोत्येव संकल्पं परमेश्वरः"।

यह परमेश्वर दूसरे मितयोगियों के सदृश मितसिद्धि वाला नहीं, अपितु सबकुछ करने और जानने में समर्थ होता है।

तात्पर्य यह है कि साधारण कृमि आदि भी किञ्चित् विचित्र क्रिया ज्ञान रखते ही हैं, और मनुष्यों में भी स्वप्न तथा मनोराज्यादि स्वतन्त्र विकल्पों में विचित्र विश्वनिर्माणशक्ति देखी जाती है। इसी विशिष्ट-शक्ति के द्वारा तत् तत् उद्यान, वन, गिरि, सरोवर, नगर आदि असाधारण पदार्थों का निर्मातृत्व स्वानुभवगम्य है। मनुष्यों के अनुभव से कृमि आदि में भी तत् तत् शक्ति एवं निर्मातृत्व का अनुमान किया जा सकता है। इसी प्रकार योगी गाढ़तर चिदात्मैक्याभिनिवेश द्वारा अकृत्रिम चिद्महाबल का आश्रय करके अभेदख्याति-भूमि पर आरुढ़ होकर अपने संकल्पानुसार जैसा कार्य निर्माण करना चाहता है, वह सब अपनी करणशक्ति से निर्मित कर सकता है।

यद्यपि विश्व वैचित्र्योत्पादनसामर्थ्य का उपाय पहले कहा जा चुका है, तथापि सिद्धियाँ बहुत प्रकार की होती हैं, अतः प्रकारान्तर से उसे यहाँ पुनः कहा गया ॥ ३८ ॥

इस प्रकार तुर्यपदरूप-अर्थात् चिदानन्दघन शिवत्वरूप जो स्वानुभव है, वह पूर्णरूप से सर्वत्र सृष्ट्यादि कार्यों में जब स्फुरित होता है, तब आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में सम्यक् स्थिति को प्राप्त करता है

इसी रहस्य को प्रकट करने के लिये अनुग्रहमूर्ति भगवान् शिव कहते हैं:—

त्रिपदाद्यनुप्राणनम् ॥ ३९ ॥

त्रिपदादि जो तुरीय-चिदानन्दघन शिवत्वस्वरूप-पद है, उसी पद में स्थित योगी भावों का अनुप्राणन करता है। पूर्वोक्त उपायों के निरन्तर अभ्यास से योगी को चिदानन्दघन, परिपूर्ण, शिवतत्वस्वरूपतुर्यपद की प्राप्ति होती है। वह तुर्य ही जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं का अनुप्राणन तथा सभी भावों (पदार्थों) का व्यवस्थापन करता है। उस तुर्यपद को प्राप्त योगी जब व्यवहारदशा में तत् तत् इष्ट संगीतादि (शब्दादि) विषयों का तत् तत् इन्द्रियों द्वारा आस्वाद लेता है, तब भी उसकी वृत्ति बहिर्मुखी नहीं रहती, प्रत्युत् वह अन्तर्मुख विमर्शावस्था में रहता है, उस समय भी "निरावरण बोद्धृतत्व ही तत् तद् विषय एवं आस्वाद-रूप में स्फुरित है" ऐसा वह अनुभव करता है।

सूत्र का भाव यह है कि—जाग्रत् आदि तीन पद जिसके आदिभूत हैं, वह त्रिपदादि अर्थात् तुर्यपद-जो सर्वाधिष्ठान प्रकाशरूप होने से जाग्रदादि का अनुप्राणन करता है, उसी से अर्थात् उसी पद में स्थित योगी के द्वारा सर्वभावों का अनुप्राणन अर्थात् सत्-प्रकाश आनन्द रूप जो आत्मबल है, उसका समर्पण होता है। अतः योगी स्वरूप में संस्थित रहता हुआ ही सत्-चित् सुख स्वात्माभिन्न रूप में ही शब्दादि विषयों का अनुभव करता है ॥ ३९ ॥

जाग्रत्, स्वप्न आदि विकल्पों में देहेन्द्रियादि का अनुप्राणन किस प्रकार करना चाहिये? इसपर हार्दतम दूर करने वाले महेश्वर कहते हैं:—

चित्तस्थितिवच्छरीरकरणबाह्येषु ॥ ४० ॥

जिस प्रकार अन्तर्मुखता में शिवयोग के आश्रयण से चित्त की स्थिति चिदानन्दघन-स्वभाव में ही निश्चल रहती है, वैसे ही शरीर इन्द्रिय और वेद्य के आभास होने पर, बहिर्मुखी अवस्था में भी योगबल

के आश्रयण से तुर्य अनुप्राणन द्वारा तात्विकस्वभाव से प्रच्युति नहीं होती।

चिदात्मा जब वेद्य के उन्मुख होता है, तब उसका स्वरूप संकुचित होकर चित्त बन जाता है, उस संकोच का आभास होते ही सावधान शिवयोगी प्रतिलोमवृत्ति से उपाय का अवलम्बन कर ऐसा दृढ़ अनुभव करता हैं कि चिदानन्दघन स्वात्मा ही चित्त बना हुआ है। इसी प्रकार स्वात्माधिष्ठान में कल्पित बहिरिन्द्रिय, देह, तथा बाह्यपदार्थ जो वेद्य हैं, वे भी योगी की दृष्टि में चिद्रूप तात्विक स्वभाव से अप्रच्युत ही रहते हैं। क्योंकि प्रागवस्था (अन्तर्मुखता) में सभी भावसमूह चिद्रसरूप ही रहते हैं, वही बहिर्मुख अवस्था में जल, जैसे वर्फ बन गया हो अथवा मन ही जैसा स्वप्न के अथवा मनोराज्य के पदार्थ बनकर आभासित होता हो, वैंसे ही किञ्चित् काठिन्यापन्न सदृश प्रकाशित होते हैं। वस्तुतः बाहर भीतर स्वरूप-विस्फार ही तत् तद् भाव में घनीभूत भिन्नाकारतया अवभासित होता हैं और योगी की दृष्टि में विलीन होकर पुनः चिद्रस स्वरूप हो जाता है ॥ ४० ॥

इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि "अन्तःस्थित भावसमूह का ही वाह्यप्रसार होता है" परन्तु इसमें कारण क्या है ? इसपर गिरिजाधीश कहते हैं:—

अभिलाषाद्बहिर्गतिः संवाह्यस्य ॥ ४१ ॥

संवाह्य = एक योनि से अन्य योनियों में नीयमान जो पुर्यष्टकाभिनिविष्ट जीवात्मा है इसके बहिर्गति में अभिलाष = अपूर्णताख्याति -रूप 'राग' ही कारण है।

खेचरी, गोचरी, दिक्चरी, भूचरी नामक शक्तिवृन्द से अधिष्ठित कञ्चुकों के साथ यह कर्मात्मा जीव एक योनि से अन्य योनियों में अभिलाष-जो 'राग' है, इसके द्वारा ही भ्रमाया जाता है। क्योंकि अभिलाष ही अविद्या-काम-कर्मात्मक पाशराशि का मूल-आणवमल कहा गया है। इसके संबन्ध से आत्मा अन्तर्मुखता से बहिःउन्मुख होने के कारण

स्वस्वरूपानुभव का त्याग करके बाह्य विषयों में रमण करने की इच्छा से विषयासक्त होने लगता है। उत्तरोत्तर वह अभिलाष ही गाढ़ातिगाढ़ होकर मोह का विस्तार करता हुआ 'भूचरी' नामक शक्तिचक्र के आश्रयण करके पशुभूत आत्माओं को विविध योनियों में भ्रमाता है। यह पशुपरक व्याख्या हुई। इस सूत्र की 'अपशु' परक व्याख्या इस प्रकार है–

यथा–संवाह्य अर्थात् प्रेर्यं जो करणादिवर्ग है, उसकी बहिर्गति याने व्यापार पूर्वक अपने-अपने विषयों की ओर जो प्रवृत्ति है, वह "स्वरूपस्थित योगी की अधरभूमिकाओं में दर्शन श्रवणादि क्रियाओं के निर्वाहार्थ, ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों में अपने उद्रिक्त चिद्बल के आधान की जो इच्छा है, वही 'अभिलाष' है" उसीसे होती है। उसी स्वबल के क्रियावेश प्रपूरण के अभिलाष से ही संवाह्य जो करणचक्र है, वह प्रेरित होकर शब्दस्पर्शादि विषयों में प्रवृत्ति का सामर्थ्य प्राप्त करता है। ऐसी स्थिति में वह 'योगी' अभिनय रूप में इन्द्रियों द्वारा विषयग्रहणादि व्यापार करता हुआ भी निवृत्तराग होने से पूर्णतृप्ति-स्वभाव से विच्युत नहीं होता, अतएव रागजन्य मोहपाशों से मुक्त ही रहता है।

यहाँ पशुपक्ष परक व्याख्या में 'संवाह्य' का अर्थ इन्द्रियों द्वारा 'अभिलषणीय' भी विवक्षित है। अतः 'संवाह्य' जो कर्मात्मा है, उसकी 'संवाह्य' = अभिलषणीय-विषयों के प्रति जो अभिलाषा है उसी से बहिर्गति-संसरण होता है। यहाँ काकाक्षिन्याय से "संवाह्य" शब्द का 'बहिर्गतिः' और 'अभिलाषात्' उभयत्र अन्वय होता है। कर्तृत्वेन बहिर्गति में, तथा कर्मत्वेन अभिलाषात् में।

भाव यह है कि–आप मन, बुद्धि, फिर श्रवण, नेत्र से बाहर क्यों देखते हो ? किसी वस्तुव्यक्ति को जब देखते हैं, तब अभिलाषा ही कारण है। मोटर पड़ी है, जब अभिलाषा हो, तब मनबुद्धि अहंकार में निविष्ट होकर पैर, हाथ चलाते हैं, यह प्रवृत्ति क्यों हुई ? अभिलाषा से ही। जब सब अभिलाषाओं को छोड़ोगे तभी परमात्मा की अभिलाषा जगती है। इस लिये अभिलाषा-मलवाले को ही 'संवाह्य' कहते हैं। करणचक्र की प्रेरणा द्वारा शब्दादि विषयों में प्रवृत्ति अभिलाषा बिना कैसे हो सकती है ? यहाँ 'अभिलाष' पद से भी काकाक्षिन्याय से अपूर्ण, पूर्ण दोनों

अभिलाषाओं का संकेत है। जो सृष्टि विषय में अभिलाषा है, करण-चक्रादि की प्रेरणा से किंचित् कर्तृत्व, किञ्चिद् ज्ञातृत्व और सर्वाभिव्याप्तृत्व से सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञातृत्व दोनों में अभिलाषा ही 'संवाह्यता' का कारण है। 'कब मैं सर्वज्ञाता, सर्वकर्ता बनूँगा' इस प्रकार की अभिलाषा पूर्णत्व की ओर लेजाने वाली है, इसका उदय होता है—'ईश्वरानुग्रहादेव'। इसलिये कर्मात्मा याने सकाम आत्मा, अविद्या, काम, कर्म ये मृत्यु के तीन पाश हैं। जिसको अज्ञान है वह कामना करेगा, कामना है तो कर्म करेगा, कर्म करेगा तो कान ऐंठा जायगा— स्वर्ग नरक जायगा।

जैसे किंचित् ज्ञातृता, किंचित् कर्तृता की अभिलाषा करता है तो अपने परिपूर्ण चेतन-स्वरूप से च्युत है, इसी प्रकार संपूर्ण ज्ञातृता, संपूर्ण कर्तृता की अभिलाषा करता है तब भी अपने स्वरूप से च्युत है, तभी तो अभिलाषा है ? इसलिये 'संवाह्य' की बाह्यगति है ॥ ४१ ॥

यह निश्चय हुआ कि कर्मात्मा की ही 'जीव' संज्ञा है, दुष्ट अभिलाषा के कारण ही यह 'कर्मात्मा' संवाह्य बना है, यदि इस दुष्ट अभिलाषा का क्षय हो जाय, तब आत्मा को क्या लाभ होता है ? इस पर महेश्वर कहते हैं:—

तदारूढ़प्रमितेस्तत्क्षयाज्जीवसंक्षयः ॥४२॥

जब योगी की प्रमिति = अनुभूति, तदारूढ़ अर्थात् द्रष्टृभूमि नामक जो तुर्यपद है, उसपर आरूढ़ हो जाती है, उस समय उसको बाह्याभ्यन्तर सर्वप्रपञ्च स्वसंविन्मरीचिका-प्रकाश रूप ही स्फुरित होता है। उसमें स्वरूपानन्दमय पूर्णरस का आस्वादन करने से उसकी पाशव अभिलाषायें नष्ट हो जाती हैं, जिससे उसके 'जीव-भाव' अर्थात् संवाह्य जो पुर्यष्टक प्रमातृभाव है, उसका संक्षय हो जाता है, उसको सब चिन्मात्र-रूप ही स्फुरित होता है।

अभिलाषा जब उदित होती है, तब उसकी दो कोटियाँ होती हैं, पूर्वा और परा। परा कोटि में अभिलाषा अभिव्यक्त होकर संवाह्य के बहिर्गति का कारण बनती है, अभिलाषा की पूर्व कोटि जो है, वह द्रष्टा की भूमि

है। परमार्थवेत्ता-योगी सावधान होकर अभिलाषोन्मेष दशा में भी स्व-स्वरूपभूत द्रष्टृधरा से प्रच्युत नहीं होता, प्रत्युत्, पुण्योदय से उसकी आत्मशक्ति जागृत हो जाती है, साथ ही शैवशास्त्रावबोधजन्य-विवेकबल भी उदित हो जाता है, जिससे वह द्रष्टृधराधिरूढ़ प्रबुद्ध प्रमातृभाव में विराजमान रहता है, उस प्रमाता की प्रमिति-स्वात्मसंवित् चिदानन्द रसमयी अनुभूति ही होती है, यही 'तदारूढ़-प्रमिति' है, इस दशा में सभी अभिलाष स्वयं गल जाते हैं, अभिलाषोन्मेष होता ही नहीं, अभिलाषक्षय से जीव संज्ञक कर्मात्मा का भी संक्षय हो जाता है।

भाव यह कि दुष्ट-अभिलाषाक्षयिष्णु विषयों की अभिलाषा कही जाती है, उस अभिलाषा में आत्मा स्व-स्वरूप स्ववैभव को भूल कर, मितअहन्ता के संयोग से मोह में पड़कर, संकुचित हो जाता है, कदाचित् प्राक्तन पुण्यसंचय के उदय से शक्ति-स्फुरण होने पर, उसे अपने मोह का अनुभव होता है, तब शक्तिपात के प्रभाव से वह शैवशास्त्र के अनुसार विवेक-परायण होकर जब द्रष्टृभूमि में अधिरूढ़ हो जाता है और उसकी संवित्-अनुभूति भी उसी चिन्मयीभूमि में प्ररूढ़ हो जाती है, तब खेचरी आदि उद्धारक शक्तियाँ पशुत्व के विपरीत भाव से कञ्चुक से लेकर तन्मात्र पर्यन्त बाहर-भीतर सब को स्वसंवित्किरण के विस्फार रूप में प्रकाशित कर देती हैं। उस दशा में योगी सर्वत्र स्वरूपानन्दमय रस का ही आस्वादन करता हुआ संसरण हेतु पाशवअभिलाषाओं का त्याग कर देता है, उसी समय संवाह्य = आत्मा जीव = पुर्यष्टक का प्रशम हो जाता है ॥ ४२ ॥

पुर्यष्टक, आत्मा जीव संज्ञक बन्ध योग्य नानायोनियों में संसरण शील, अतएव पशु कहा गया है। उक्त रीति से पाशराशि के क्षय होने पर वह कैसा होता है ? इस पर आत्माराम शिव कहते हैं—

भूतकञ्चुकी तदा विमुक्तो भूयः पतिसमः परः ॥ ४३ ॥

जब अभिलाषात्मक पाशराशि का क्षय हो जाता है, तब वह भूत कञ्चुकी हो जाता है अर्थात् उसके शरीरारम्भक जो भूत हैं वे अहन्ता-स्पद न होकर व्यतिरिक्त = स्वभिन्न-कञ्चुक याने प्रावरणवस्त्र अर्थात् कोट के समान हो जाते हैं, उस दशा में वह विमुक्त = निर्वाण को प्राप्त

होकर अधिकांश रूप में शिवतुल्य होने से परिपूर्ण हो जाता है। कञ्चुककल्प देहादि में रहते हुए भी प्रमातृतासंस्कार से स्पृष्ट नहीं होता।

देखो ! पञ्चभूत एक कञ्चुक मात्र है, जैसे लोग कोट, कुरता पहनते हैं। भिन्न, और एक दूसरे पञ्चभूत आत्मजन हैं जो पुर्यष्टक (सूक्ष्म) और पञ्चभूत (स्थूल) इन दोनों में आबद्ध आत्मा है। अभिलाषासार जो पुर्यष्टक है उसके क्षय हो जाने से अब भूतकञ्चुक मात्र रह जाते हैं।

महाभूत जो पाँच हैं, वे ही पाशरूप कञ्चुक हैं। कञ्चुक का अर्थ है-आवृति, जब यह आत्मा पञ्चभूत की चोली पहनता है, तब उसको भूतकञ्चुकी कहते हैं। उस दशा में वह अविमुक्त अर्थात् बद्ध ही है, परन्तु पूर्वोक्त रीति से अभिलाषक्षय हो जाने पर जीवभाव को छोड़ कर जब वह—

"न भूमि र्न तोयं न तेजो न वायु र्न खं नेन्द्रियं वा न-तेषां समूहः।
अनैकान्ति-कत्त्वात्सुषुप्त्येकसिद्धस्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्"

इसी आशय के अनुसार भूत-कञ्चुक से विमुक्त सर्वज्ञ, सर्वकर्तृ, भूमि पर आरूढ हो जाता है, तब वह पूर्णरूप से पति-सम अर्थात् शिव तुल्य हो जाता है इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि उसे सम्यक् अपने पूर्णस्वरूप का अनुभव हो जाता है।

भाव यह है कि अभिलाषात्मक मल का प्रक्षय होने पर भौतिक देह का संबन्ध रहने के कारण उसमें अविमुक्तता प्रतीत मात्र होती है। वस्तुतः वह बन्ध-योग्य पशुभाव से निकल कर सर्वज्ञातृत्व, सर्वकर्तृत्व भूमि में लब्धपद होने से निरन्तर अनुत्तर चिदानन्दघन-स्वात्माभिन्न शिवत्व का अनुभव करता हुआ देहकला के रहने के कारण पूर्णतया शिव ही न होकर शिव-सदृश ही रहता है। देहपातानन्तर उसे शिव भाव की प्राप्ति होती है ॥ ४३ ॥

इस प्रकार पुर्यष्टकाभिमान के विगलित हो जाने पर उससे संबद्ध भूतकञ्चुक का भी भ्रंश अनिवार्य है, फिर कञ्चुक-पुर्यष्टक बिना प्राण-स्पन्दन कैसे होगा ? इसपर परमप्रकाश प्रभु कहते हैं:—

नैसर्गिकः प्राणसंबन्धः ॥ ४४ ॥

प्राण और पुर्यष्टक का संबन्ध निसर्गसिद्ध है। पूर्वोक्त रीति से योगी स्वप्रकाश-संविद्‌निष्ठ रहता है। अतः उसके पुर्यष्टकाभिमान का प्रशम यद्यपि हो जाता है, तथापि प्रारब्धकर्म का उपभोग जबतक समाप्त नहीं होता तब तक स्वाभाविक रूप से प्राण एवं तत्संबद्ध भूतकञ्चुक की अवस्थिति रहती ही है। उसके लिये योगी कोई प्रयत्न नहीं करता। क्योंकि प्राण भी तो प्राणमय अर्थात् संविन्मय ही है।

तात्पर्य यह है कि योगी की संवित् = प्रमिति की द्रष्टृभूमि में निरन्तर आरूढ़ रहने से उसका पुर्यष्टक में आत्माभिमान नहीं रह जाता। उस दशा में पुर्यष्टक से संबद्ध जो भूतकञ्चुक है, उसका भी भ्रंश अवश्य हो जाना चाहिये। परन्तु ऐसा होता नहीं, शरीर कर्मभोगपर्यन्त स्थिर रहता है। अतः उसकी स्थिरता के कारण 'प्राण-पुर्यष्टक-संबन्ध निसर्गतः सिद्ध है' ऐसा स्वीकार करना पड़ता है। वस्तुतः विमर्शाख्या जो संवित् है, वही विश्ववैचित्र्य के अवभासन की इच्छा से अपनी पूर्णता को संकुचित रूप में अवभासित करती हुई प्राणनात्मक ग्राहकभूमि का समाश्रयण करके ग्राह्य जो जगत् है तद्‌रूप में भी स्फुरित होती है, संकोचावभासन के कारण वह स्वयं अपने पूर्णवैभव को भूल कर जीवदशा को ग्रहण कर लेती है। पुन. अपने में ही "यह शुभ (इष्टफल देने वाला) है, यह अशुभ (अनिष्टफल देने वाला) है" इस प्रकार के विकल्पों को प्रकट करके पुण्यापुण्यात्मक प्रभूतकर्मों का संग्रह करके उन कर्मों के अनुरूप नरयोनि, पशु आदि योनि एवं देवता आदि योनियों में दीर्घकाल तक संसरण करती रहती है। कदाचित् पुण्यातिशय परिपाक से नरदेह में "रुद्रशक्त्या समाविष्टोनीयते सद्‌गुरुं प्रति" के अनुसार स्वयं जागृत रुद्रशक्ति से प्रेरित होकर शिव की अनुग्रहमूर्ति अतएव निरपेक्षशक्तिपात के अधिष्ठान जो सद्‌गुरु हैं उनकी शरण में जाकर जीवभाव से अनुत्तर जो ऊर्ध्वधाम है, अर्थात् शिवपद है उसकी प्राप्ति की अभिलाषा व्यक्त होती है, गुरू के कृपापूर्ण उपदेश से स्वात्मरूप शिवज्ञान के सोपान-पद्धतिक्रम से निरन्तर समारोहण करते-करते जब शिवपद की स्वरूपतया उपलब्धि हो जाती है, तब ज्ञानाग्नि से सभी कर्मों के दग्ध हो जाने पर भी उसके

वर्तमान देहारम्भक प्रारब्ध संज्ञक कर्मों का व्यापार कर्मों के उपक्षीण हो जाने पर भी, दण्ड के दूर हो जाने पर भी चक्रभ्रमण की भाँति बना ही रहता है। अतः जब तक प्रारब्ध कर्मों का उपभोग समाप्त नहीं हो जाता तब तक प्राण एवं उससे संबद्ध भूतकञ्चुक से संवित् निवृत्त नहीं होती अर्थात् कुशल अभिनेत्री की भांति अपने पूर्णस्वरूप में आरूढ़ होकर भी तावत् ग्राह्य-ग्राहक की भूमिकाओं के अनुसार प्रारब्धोपभोगात्मक अभिनय का निर्वाह स्वतन्त्र किन्तु स्वाभाविक रूप में करती ही है ॥ ४४ ॥

शरीर रहते पतिभाव-प्राप्ति हो जाने पर योगी को शिवतुल्यता प्राप्त हो जाती है, तदनन्तर अनुत्तरस्वात्मसिद्धि के लिये इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना इन तीन प्रधान नाड़ियों में प्रवाही जो विन्दु-नादात्मक प्राण है, उसका जय करना चाहिये अथवा नहीं ? इसपर योगीश्वर शिव कहते हैं–

नासिकान्तर्मध्य-संयमात् किमत्रसव्यापसव्य-सौषुम्नेषु-४५

(नसते कुटिलं वहति इति नासिका प्राणशक्तिः, (ऽणस्कौटिल्ये) नासिका जो प्राण शक्ति है उसके अन्तःप्रतिष्ठित जो संवित् है, (प्राक्-संवित् प्राणे प्रतिष्ठिता भवति) उस संवित् का भी मध्य अर्थात् सर्वान्तिरतम होने से प्रधान जो विमर्शमय रूप है, उसमें चित्त का संयम करने से अर्थात् अन्तर्निरन्तर निभालन-प्रकर्ष से प्राण सहित चित्त की वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं और अनुत्तर स्वात्मशिवता का उदय हो जाता है। इस प्रकार उच्च भूमि में प्राणजय सिद्ध हो जाने पर निम्न-भूमि में प्राण-वाहिनी नाड़ियों में प्रधान इड़ा,पिङ्गला और सुषुम्ना रूप नाड़ियों द्वारा पूरक, कुम्भक,रेचक व्यापार से प्राणजय का प्रयास करने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता ।

इस सूत्र में पतिभाव प्राप्त योगी के लिये स्वात्मसिद्धि-हेतु निविड़ अभ्यासार्थ प्राणात्मा जो अनाहत शब्दब्रह्म है, उसकी उपासना का निर्देश किया गया है। नासिकान्तर्मध्य जो हृदय है जहां प्राणार्क का अस्तमन हो जाता है, उस प्रदेश में चित्त का संयम करने वाले योगियों का अभ्यासातिशय जब अति सहज हो जाता है, तब इड़ा आदि तीनों मार्गों में बहने वाले विन्दुनाद-गर्भ प्राण का हृदयदेश में ही विलय हो

जाने से, नाड़ीजय संपन्न हो जाता है। प्राणवृत्ति के उपरत हो जाने पर चित्तवृत्ति अनाहत-ब्रह्म में विश्रान्त होती है, उस समय स्पष्ट रूप में अनाहत ब्रह्म-प्रतीति के साथ चित्तवृत्ति एक होकर प्रवाहित होती है। इस प्रकार तन्मयीभूत होने से उसके-ध्यातृ-ध्यान-ध्येयात्मक भेद विगलित हो जाते हैं, जिससे परमस्वात्मशिव का उदय हो जाता है। इस प्रकार साध्य-सिद्धि हो जाने पर परमोच्चपद को सम्यक् प्राप्त योगी सभी अवस्थाओं में देदीप्यमान व्युत्थान-रहित परसमाधि के सुख-समुद्र में निमग्न रहता है। उस दशा में उसे आणवोपाय में निर्दिष्ट अधरभूमि की उपासना द्वारा प्राण-नाड़ीजय की प्रक्रिया में पड़ने का क्या प्रयोजन है?

अतएव 'श्रीमत्स्वच्छन्द तन्त्र' में योगीश्वर भगवान् शिव ने पूरक रेचकादि प्राणायाम द्वारा प्राण-नाड़ीजय के वर्णन को "सानुषङ्गिक" कहकर शिवमय, विशुद्ध, आत्मस्वरूप को प्राप्त, अतएव स्वतन्त्र शिवयोगी के लिये अनुपयोगी ही व्यक्त किया है।

अथवा-नासिकान्त-का तात्पर्य है-वामदक्षिणवाहमध्य अवाहरूपा सुषुम्ना; वहीं चित्त को स्थिर करना। शिवयोगी स्वच्छन्द-वाह-मध्यधाम शिवमय है। रेचक, पूरक कुम्भक द्वारा प्राणजय से जो सिद्धियाँ होती हैं, वे सिद्धियाँ इस योगी के लिये आनुषङ्गिक होती हैं। स्वस्वरूप के निभालनरूप मुख्य परमलाभ की ऐश्वर्यभूता सिद्धियां आनुषङ्गिक इस प्रकार होती हैं जिस प्रकार गायक्रीत कर लेने पर उसका वत्स-बछड़ा आनुषङ्गिक बिना मोल ही मिलता है।

इस प्रकार पूर्वोक्त शिवत्त्व उन्मीलन-युक्ति के निभालन से जीवन्मुक्त शिवयोगी शिव-सदृश कञ्चुक अभिलाषासार पुर्यष्टक से विमुक्त हो करके शुद्धाध्वा में शक्त्यण्डक्रीडा, मायाध्वा में शुद्धाशुद्धक्रीडा, प्रकृत्यण्ड में गुण, भूत, कार्य, कारण, पुर्यष्टक-भूत कञ्चुकीक्रीडा यावद्देह (दण्ड द्वारा फिराना बन्द करने पर भी चक्र भ्रमण के सदृश,) प्रारब्ध वेग होने तक करता रहता है। देहपात के अनन्तर वह साक्षात् शिव ही हो जाता है॥ ४५ ॥

इस प्रकार इन तीनों प्रकरणों में उपायक्रम रूप में कही गई शैव प्रक्रिया का सार संक्षेप, अगले सूत्र में निर्दिष्ट करते हुए पञ्चकृत्यकारी, महेश्वर (निर्दिष्ट करते हुए) ग्रन्थ का उपसंहार कर रहे हैं:—

भूयः स्यात् प्रतिमीलनम् ॥ ४६ ॥

चैतन्यात्मस्वरूप से उदय को प्राप्त जो यह भेद-प्रथात्मक दृग-दृश्य रूप विश्व है, उसके उक्त-उपाय के परिशीलन से भेद-संस्कारों के विगलित हो जाने पर भूयः—पुनः तथा बाहुल्येन पूर्णरूप से प्रतिमीलन—पुनरपिचैतन्यात्मस्वरूप का उन्मीलनरूप स्वस्वरूप-शिवत्त्वोपलब्धि परयोगाभिनिविष्ट योगी को होती है।

भाव यह है कि संविन्मय अनुत्तर स्वरूप परमशिव ही अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्तिरूपी बीज को स्वबलाक्रमण से उच्छून करके उससे निर्गत शिवशक्ति आदि पल्लवाङ्कुरों को पल्लवित कर शुद्धअध्वा में अधिष्ठित हुआ। यहाँ तक शुद्धअध्वा में वह अपने चिद्घन-स्वभाव से अप्रच्युत ही रहता है। परन्तु अधरअध्वा में वह स्वरूप-विस्मरणात्मक जो आत्म-क्रीड़ा है, उस क्रीड़ा के प्रदर्शन के अभिप्राय से मायाप्रमातृता का स्वाँग भरकर विश्वनाट्य का अभिनय करता है। वही पुनः तीव्रतम शक्तिपात से अपनी सहज सर्वज्ञान-क्रियाशक्ति को अपने में आविर्भूत करके विश्व को अपनी अलुप्तशक्तियों के वैभव-रूप में देखता हुआ शैवज्ञानपद्धति द्वारा अपने क्षेत्रज्ञभाव को उसमें डुवोकर = तिरस्कृत करके क्षेत्रमात्र का कारण जो प्रारब्ध-कर्मव्यापार-रूपी कालुष्य है, उसका भोगाभिनय द्वारा प्रक्षय हो जाने पर परिपूर्ण चिदानन्दघन जो अनुत्तरपरमशिवीभाव है, जो मध्य में अप्रकट रहा, उसका उन्मज्जन करके वह विश्वनाट्य का अभिनेता, पुनः स्वरूपस्थिति में लौट आता है। इसी आशय से कहा गया है—"भूयः स्यात् प्रतिमीलनम्" ॥ ४६ ॥ सम्पूर्णम्

श्रीमत् परमहंस स्वामी अभयानन्द सरस्वतीकृत शिवसूत्र-हिन्दी व्याख्या पूर्ण ॥

इति शिवसूत्र-व्याख्य, सन्दृब्धा लोकभाषया रम्या।
अभयानन्दयतीन्द्रै राञ्जस्येनार्थबोध-सम्पत्यै ॥ १ ॥
सूत्रव्याख्या यामलमेतत्, शिवयोरिवाद्वैतम्।
निगमागमार्थसारं, शश्वच्छान्त्यै सतां भूयात् ॥ २ ॥